UGC APPROVED JOURNAL
(UGC CARE LISTED JOURNAL)

मूल्य : 100 रुपये
ISSN 0973-1490

चिन्तन-सृजन

वर्ष-22 | त्रैमासिक | अंक : 3 (जनवरी-मार्च, 2025)

www.asthabharati.org

आस्था भारती, दिल्ली

UGC CARE LISTED JOURNAL

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष : 22 अंक : 3 (जनवरी-मार्च, 2025)

संस्थापक सम्पादक

स्व. बी.बी. कुमार

▼

सम्पादक

डॉ. शिवनारायण

▼

परामर्शी मंडल

श्री पी.सी. हलधर
अध्यक्ष, आस्था भारती, दिल्ली

प्रो. टी.जी. प्रभाशंकर प्रेमी
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बेंगलूर विश्वविद्यालय

प्रो. श्यौराज सिंह बेचैन
वरिष्ठ प्रोफेसर, हिन्दी, दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रो. देवशंकर नवीन
प्रोफेसर, हिन्दी, जे.एन.यू., दिल्ली

प्रो. चिट्टि अन्नपूर्णा
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय

आस्था भारती
दिल्ली–110096

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	400.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	600.00 रुपये
विदेशों में	$ 60

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	100.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	$ 16

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	20,000.00 रुपये
अन्दर कवर	15,000.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	10,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	7,000.00 रुपये

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

फ्लैट नं.–371, वंदनवाड़ी अपार्टमेन्ट, प्लॉट–8, सेक्टर–10, द्वारिका, नई दिल्ली–110075

आस्था भारती, दिल्ली के लिए के.एम.एस. राव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एंड प्रिंटर्स, ई–33, सेक्टर–ए.5/6, उ.प्र. समापन क्षेत्र, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद–201103 (उ.प्र.)द्वारा मुद्रित।

ई–मेल : asthabharati1@gmail.com / shivnarayan22@yahoo.com

वेबसाईट : www.asthabharati.org

चिन्तन–सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के अपने हैं। उनसे सम्पादक/आस्था भारती की सहमति अनिवार्य नहीं।

विषय–क्रम

संपादकीय परिप्रेक्ष्य

राहुल सांकृत्यायन की विदेश यात्रा — 5
डॉ. शिवनारायण

साहित्य–चिंतन

1. कबीर काव्य में लोकतत्व — 10
स्वाति सुलभ
2. भारतेंदु युगीन काशी की पत्रकारिता — 16
डॉ. ध्रुव कुमार
3. नई कहानी : संवेदना और शिल्प — 24
अनुपम
4. रामदरश मिश्र के साहित्य में वैश्विक परिदृश्य — 29
कुमार मंगलम
5. समकालीन हिंदी गजल में अस्मितामूलक विमर्श और वंचित समाज — 34
दिव्या शुक्ला
6. नवगीत और शांति सुमन — 44
सुशांत कुमार
7. नागार्जुन के काव्य में समसामयिक समस्याएँ — 50
बबिता कुमारी
8. अभिमन्यु अनत के उपन्यासों में भारतीय संस्कृति — 56
अभय कुमार पुरी

अस्मिता–चिंतन

9. डॉ. अम्बेडकर और जोतिबा फूले — 63
प्रो. मीना शर्मा
10. डॉ. अंबेडकर और डॉ. लोहिया की सामाजिक न्याय की परिकल्पना — 68
डॉ. शैलेन्द्र सिंह

11. अंबेडकर के सामाजिक न्याय का भारतीय समाज पर प्रभाव 76
ज्योति गौतम

12. विकास, विस्थापन और आदिवासी समाज 83
डॉ. अंशु यादव

13. पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री–संघर्ष 88
शिवानी गुप्ता

शिक्षा–दर्शन–चिंतन

14. एक और द्रोणाचार्य' शिक्षा व्यवस्था और शंकर शेष के नाटक ' 95
डॉ. रामप्रवेश रजक

15. मध्यकालीन भारत में शिक्षा और दर्शन का स्वरुप 102
अरुण कुमार

16. उपनिषदों में आनन्द तत्व 109
सुनीता देवी

17. गिरीश रस्तोगी की रंग–दृष्टि 116
नेहा श्रीवास्तव

समीक्षा–चिंतन

18. प्रतिरोध का महाशंख बजाती कविताएँ 124
शहंशाह आलम

■

संपादकीय परिप्रेक्ष्य

राहुल सांकृत्यायन की विदेश यात्रा

डॉ० शिवनारायण

भारतीय ज्ञान परंपरा के ख्यात लेखक महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने ज्ञान की खोज में देश–विदेश की अविराम यात्राएँ की। अपनी यात्राओं के विपुल अनुभवों को लेकर उन्होंने शताधिक पुस्तकों की रचना की, जिनमें मेरी जीवन–यात्रा' (छह खंड), 'दर्शन–दिग्दर्शन', 'बाइसवीं सदी',' भागों नहीं दुनिया को बदलो',' बोल्गा से गंगा',–दिमागी गुलामी','घुमक्कर शास्त्र', यात्रा के पन्ने' आदि प्रमुख हैं। अपने जीवन का अधिकांश हिस्सा उन्होंने देश–दुनिया की घुमक्कड़ी में बिताई। उन्होंने घुमक्कड़ी को मनुष्य का आदि सनातन धर्म माना है, जिसके वगैर दृष्टि की व्यापकता और विचारों की गहराई नहीं पाई जा सकती। यह घुमक्कड़ धर्म ही है जो किसी जात–पात को नहीं मानता। यह एक बेहद काव्यात्मक और मधुर रस है।[1] देखा जाए तो यायावरी राहुल सांकृत्यायन के जीवन–गति का पर्याय रही है, जो उनके छुटपन से अंत तक साथ रही। यात्रा ने उनकी जीवन–दृष्टि को विस्तार ही नहीं दी, अपितु देश–दुनिया से संपृक्ति का चित्र नई आख्यायिकमाएँ भी रची। अपनी 'घुमक्कर शास्त्र' नामक पुस्तक में उन्होंने लिखा भी मनुष्य स्थावर वृक्ष नहीं, वह जंगम प्राणी है। चलना मनुष्य का धर्म है। जिसने इसको छोड़ा, वह मनुष्य होने का अधिकारी नहीं है।[2]

राहुल जी की यात्राएँ ही उन्हें ज्ञान के शिखर तक पहुँचाती है। 'यात्रा और घुमक्कड़ी' को वे अपने जीवन का धर्म समझते रहे। वे सदैव जिज्ञासु प्रवृत्ति के रहे, जिसकी वजह से घुमक्कड़ी की ओर ध्यानस्थ हुए। उन्होंने देश–विदेश की विपुल यात्राएँ की, विशेषकर विदेश यात्राएँ। उनकी विदेश यात्राओं में कतिपय विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। उन्होंने 1927 ई. से अपनी विदेश यात्राओं का आरंभ किया। सबसे पहली यात्रा श्रीलंका की थी। कालक्रम से उन्होंने नेपाल तिब्बत, चीन, ईरान, जापान, इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, कोरिया, मंचुरिया सहित अनगिन देशों की यात्राएँ कीं। उन्होंने तिब्बत की चार बार यात्राएँ की और वहाँ की जीवन–संस्कृति के गर्भ में बौद्ध ज्ञान–संस्कृति को लक्ष्य करते हुए तद्संबंधित दस्तावेजों को संग्रहित नहीं किया, अपितु, उस दौरान तिब्बती लिपि में दस हजार से भी अधिक पांडुलिपियां भारत लेकर आए। उन सभी पांडुलिपियों को उन्होंने ख्यात इतिहास काशीनाथ जायसवाल संस्थापित बिहार रिसर्च सोसायटी, पटना

में संरक्षित किया। अपनी यात्राओं से उन्होंने मूर्तियाँ, चित्र, आभूषण आदि भी एकत्र किए। अपनी यात्राओं के अनेक वृत्तांत भी लिखे, जिनमें लंका, जापान, ईरान, कोरिया, किन्नर देश की ओर, चीन में क्या देखा, मेरी लद्दाख यात्रा, मेरी तिब्बत यात्रा, तिब्बत में एक वर्ष आदि की चर्चा तो धूम से होती है।

अपने स्कूली दिनों में ही उन्होंने अपनी पाठ्य–पुस्तक में कवि कपोतराज की एक पंक्ति पढ़ी थी–'सैर की दुनिया की गाफिल, जिन्दगानी फिर कहाँ। जिन्दगानी गर कुछ रही तो, नौजवानी फिर कहाँ!' इस पंक्ति का ऐसा प्रभाव पड़ा कि जीवनपर्यन्त घुमक्कड़ी के लिए वे प्रवृत्त हो गए। उनकी इस उक्ति में ही 'घुमक्कड़ी का दर्शन' का मर्म समाहित हो गया। देशाटन, स्थान–दर्शन और विभिन्न दुर्गम यात्राओं से संबंधित उन्होंने 22 पुस्तकों की रचना की, जिसके द्वारा इतिहास, संस्कृति, भूगोल, अर्थव्यवस्था और समूची समाज व्यवस्था का ही ज्ञान नहीं होता अपितु सभ्यता संघर्ष की विकास–गाथा के भी दर्शन होते हैं। उनकी उल्लेखनीय पुस्तकों में नेपाल (1927–28), तिब्बत में सवा वर्ष (1931), मेरी यूरोप यात्रा (1932), मेरी तिब्बत यात्रा (1934), जापान (1935), ईरान (1936), रूस में पच्चीस मास (1951), यात्रा के पन्ने (1951), एशिया के दुर्गम भूखण्डों में (1956), चीन में कम्यून (1959), सोवियत भूमि (1938), सोवियत मध्य एशिया (1947), घुमक्कड़ शास्त्र (1949) आदि शामिल है। 'यात्रा के पन्ने' शीर्षक पुस्तक की भूमिका में राहुल जी ने लिख– 'मेरी चारों तिब्बत यात्राओं (1929, 1934, 1936, 1938 ई.) को हुए आज तेरह वर्ष हो चुके हैं, लेकिन तिब्बत ने जैसे अपने भीतर शताब्दियों को ताजा बनाए रखा, उसी तरह से इतिहास की दृष्टि से वह अब भी अचल सिद्ध होता, किन्तु अब वहाँ शताब्दियों का परिवर्तन वर्षों में होने लगा है। भारत और तिब्बत की जिन सांस्कृतिक अनमोल निधियों को मैं वहाँ के मठों में देख आया था, अब उनके गुणग्राहक वहाँ पैदा हो गए हैं और आशा है कि इतिहास के प्रेमियों के लिए, भारत और चीन के संबंध को और सुदृढ़ करने के लिए यह निधियाँ प्रकाश में आएँगी।'

राहुल जी बहुआयामी चेतना के घुमक्कड़ विद्वान थे। उनका मानना था कि घुमक्कड़ी से मनुष्य में समता–दृष्टि उत्पन्न होती है। वे स्थितप्रज्ञ हो विश्व की संस्कृति को मनुष्य के विकास के हित में परखने–निरखने की आत्मऊर्जा प्राप्त करते हैं। अपनी यूरोप यात्रा के क्रम में वे फ्रांस, ब्रिटेन और जर्मनी भी गए। परंतु पाश्चात्य संस्कृति के दर्शन से अधिक वे व्रात्य संस्कृति से होते हुए बौद्ध संस्कृति के दर्शन से अधिक प्रभावित हुए और किंचित इन्हीं कारणों से कालांतर में जापान–कोरिया के संस्कृति–दर्शन की ओर उन्मुख हुए। वास्तव में जाज्वल्यमान प्रतिभा थे, जिनकी साहित्य, दर्शन, इतिहास, संस्कृति सहित सभी अनुशासनों पर समान पकड़ थी। ऐसे विलक्षण मनीषी को अपने जीवन के अंतिम दिनों में स्मृतिलोप जैसी सांघातिक अवस्था से भी गुजरना पड़ा। हालाँकि चिकित्सार्थ वे मास्कों भी ले जाए गए, पर उनकी घुमक्कड़ी वृत्ति को बाँधा नहीं जा सकता! वे

मास्को से दिल्ली आ गए। राहुल जी ने एक जगह अपनी घुमक्कड़ी वृत्ति के बारे में लिखा भी है कि मेरी समझ में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है घुमक्कड़ी। घुमक्कड़ से बढ़कर व्यक्ति और समाज का कोई हितकारी नहीं हो सकता। दुनिया दुःख में हो चाहे सुख में, सभी समय यदि सहारा पाती है तो घुमक्कड़ों की ओर से ही। प्राकृतिक आदिम मनुष्य परम घुमक्कड़ था।... आदमी की घुमक्कड़ी ने बहुत बार खून की नदियाँ बहाई, इसमें संदेह नहीं और घुमक्कड़ों से हम हरगिज नहीं चाहेंगे कि वे खून के रास्ते पकड़े, परन्तु घुमक्कड़ों के काफिले न आते–जाते तो सुस्त मानव जातियाँ सो जाती और पशु से ऊपर नहीं उठ पाती। अमेरिका अधिकतम निर्जन सा पड़ा था। एशिया के कूपमंडूक को घुमक्कड़ धर्म की महिमा भूल गई, इसलिए उन्होंने अमेरिका पर अपनी झंडी नहीं गाड़ी। दो शताब्दियों पहले तक आस्ट्रेलिया खाली पड़ा था। चीन–भारत को सभ्यता का बड़ा गर्व है, लेकिन इनको इतनी अक्ल नहीं आई कि जाकर वहाँ अपना झण्डा गाड़ आते!' एतदर्थ समझा जा सकता है कि घुमक्कड़ी की चेतना ही नहीं, उसकी लाभ–हानि से भी वे परिचित रहे। घुमक्कड़ी को उन्होंने अपनी ताकत बनाई और उसका लाभ भारत सहित पूरी मानव जाति को पहुँचाया। अपने विश्व यात्रा–दर्शन के व्यापक परिप्रेक्ष्य की उन्होंने अनेक स्थानों पर विशद चर्चा की है। अपनी पुस्तक 'घुमक्कड़ शास्त्र' में ही वे लिखते हैं– 'आदमी जब अछूती प्रकृति और उसकी और संतानों में जाकर महीनों और साल बिताता है, उस वक्त भी उसे जीवन का आनन्द आता है, वह हर रोज नए–नए आविष्कार करता है। कभी इतिहास, कभी नृवंश, कभी भाषा और कभी दूसरे विषयों में खोज करता है।... घुमक्कड़ी लेखक और कलाकार के लिए धर्म–विजय का प्रमाण है। वह कला विजय का प्रमाण है और साहित्य विजय का भी। वस्तुतः घुमक्कड़ी को साधारण बात नहीं समझनी चाहिए। यह सत्य की खोज के लिए, कला निर्माण के लिए, सहभावनाओं के विस्तार के लिए महान दिग्विजय है।'[3]

लगभग 150 पुस्तकों के रचयिता एवं तीस भाषाओं के जानकार पं. राहुल सांकृत्यायन की विदेश यात्राओं के मूल में उनकी यायावरी थी और किंचित इसी कारण उनमें वैचारिक अस्थिरता भी देखी गई। हिंदी भाषा में यात्रा–साहित्य के पितामह कहे गए। कर्मयोगी योद्धा के रूप में उन्होंने बिहार को 1940 ई. के किसान आंदोलन में भी अपनी सक्रिय भूमिका निभाई, जिस दौरान एक वर्ष जेल में भी रहे। जेल प्रवाव में ही 'दर्शन–दिग्दर्शन' नामक पुस्तक की रचना की। वे मानते रहे कि 'समदर्शिता ही घुमक्कड़ी का एकमात्र दृष्टिकोण है और आत्मीयता उसके हरेक बर्ताव का सार।' इसी भाव से 9 अप्रैल, 1893 ई. को उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ के एक गाँव पंदाहा में जन्में राहुल सांकृत्यायन ने सन् 1910 ई. में जो घर छोड़ा, 33 वर्षों बाद 1943 ई. में ही अपने ननिहाल पंदाहा लौटे। घुमक्कड़ी स्वभाव वाले राहुल जी में सार्वदेशिक दृष्टि की ऐसी अद्भुत प्रतिभा थी, कि दर्जनाधिक अनुशासनों पर उनकी समान पकड़ बनी रही। सनातनधर्मी थे, पर

आगे चलकर बौद्ध धर्म में दीक्षा ले ली। इसी वजह से मूल नाम केदार पांडेय नाम त्याग कर राहुल सांकृत्यायन हो गए। बौद्ध दर्शन का गंभीर अध्ययन किया, पर भगवानबुद्ध के पुनर्जन्मवाद को मानने से इन्कार कर दिया। उन्होंने अधिकांशतः बौद्ध देशों की यात्राएँ की और जिन देशों मे भी ज्ञानतत्व मिला, सब बटोर कर भारत ले आए।

विदेश यात्राओं में तिब्बत की यात्रा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। पहली तिब्बत यात्रा अत्यंत कष्टप्रद रही, लेकिन तमाम विघ्नों को पार करते हुए वे तिब्बत पहुँचे। उनके निकट रहे हिंदी के प्रतिष्ठित लेखक डॉ. प्रभाकर मानवे ने उनकी इस पहली तिब्बत यात्रा का रोचक आख्यान दर्ज किया है– '1928 में तिब्बत जाना आसान नहीं था। नेपाल मार्ग से होकर गुप्त रूप से वहाँ जाया जा सकता था। रक्सौल और अमलेखगंज होते हुए वे शिवरात्रि का लाभ उठाकर वहाँ पहुँचे। काठमांडू के महाबौद्ध स्तूप में वे डुक–पा लामा से मिले। लद्दाख के हेमिस लामा से उन्हें एक उत्तम अनुशंसा पत्र मिल चुका था। यहाँ राहुल नेपाली बन कर डुक–पा लामा के शिष्यों में एक बन गए। पर लामा एल्मोन गए ही नहीं, जहाँ राहुल उनसे मिलने वाले थे। बल्कि वे ग्नेनाम पहुँचे। वे वहाँ उन घुमंतू व्यापारियों के साथ हो लिए, जो याकों पर नमक ले जाते थे और नेपाल में उसे चावल या अनाज के बदले बेचते थे। राहुल डुक–पा लामा से मिले। मारकोसी और तातापानी से होते हुए, उनके दल में से एक होकर, उनके दल में एक हो गए। राहुल जी ने अपना नाम देवांग बताया, जो खुन्नू (किनौर) में पैदा हुए हैं और रोग के अवतारी लामा के चेले हैं।'[4] राहुल जी तिब्बत जाने के लिए व्यग्र थे। उनकी प्रमुख समस्या थी। 'लाभ–चिक' अर्थात् भूमि–सीमा पार करने का अनुमति पत्र किस प्रकार से प्राप्त किया जाए। संयोगवश राहुल जी कभी बोधगया में मंगोल भिक्षु से मिले थे, उसी से भेंट हो गई और उसने ही दो–चार बार पत्र ला दिए। इस प्रकार से तिब्बत की दुर्गम यात्रा मुश्किलों भरी रही, पर हो गई।

राहुल जी की हर विदेश यात्रा की अलग–अलग कहानी है। पर वे जिन देशों की भी यात्रा करना चाहे, वे होते गए। उनकी हर यात्रा सोद्देश्य ज्ञानार्जन के लिए होती। घुमक्कड़ी उनके लिए सैर–सपाटा थी भी नहीं। तिब्बत ही नही, 1935 ई. में जापान–कोरिया की यात्रा भी बौद्ध दर्शन विषयक अनगिन दस्तावेजों की प्राप्ति के उद्देश्यों से की गई, जिसका विस्तार मंचूरिया, सोवियत संघ, ईरान आदि की यात्राओं से पूरी हुई। यायावरी के अनुभव से उन्होंने केवल घुमक्कड़ी साहित्य की ही रचना नहीं की, बल्कि इतिहास विषयक पुस्तकों 'मध्य एशिया का इतिहास (दो खंड), 'ऋग्वैदिक आर्य', 'अकबर', 'सोवियत शासन का इतिहास (दो खंड), 'मानव की कहानी' और 'भारत में ब्रिटिश राज्य के संस्थापक (अनुवाद) में भी उसका पूरा–पूरा लाभ लिया। उनके धर्म, दर्शन एवं संस्कृति विषयक पुस्तकें बौद्ध दर्शन, वैज्ञानिक भौतिकवाद, दर्शन–दिग्दर्शन, बौद्ध संस्कृति, तिब्बत में बौद्ध धर्म, इस्लाम धर्म की रूपरेखा, नवदीक्षित बौद्ध आदि के लेखन में उनकी यायावरी

के ज्ञान–दर्शन मिलते हैं। विदेशी यात्राओं से जो सभ्यताओं के संघर्ष से संस्कृति–दर्शन के ज्ञान–विकास की जानकारी मिली, उसका सदुपयोग उन्होंने अनेक पुस्तकों के लेखन में किया।

यात्रा–साहित्य को समृद्ध करने वाले राहुल सांकृत्यायन बहुभाषाविद और महान घुमक्कड़ थे। देश–विदेश की सैर करते हुए उन्होंने अनेक दुर्लभ ग्रंथों की खोज की एवं उनका अध्ययन किया। उनके लेखन में इतिहास–दर्शन की झलक मिलती है तो उनके जिज्ञासु प्रवृत्ति के पुरातत्व का भाव भी मिलता है। एक समय वे अपनी सक्रियता में साम्यवादी विचारधारा के साथ भी रहे, लेकिन कालांतर में हिंदी–हिंदुस्तानी के विवाद में हिंदी के लिए उन्होंने साम्यवादी विचारधारा से मुक्ति पा ली। ऐसे महान घुमक्कड़ लेखक का निधन 14 अप्रैल, 1963 ई. में दार्जिलिंग प्रवास में हुआ।

संदर्भः

1. योद्धा महापंडित राहुल सांकृत्यायन, ले–उर्मिलेश, पृष्ठ–40
2. घुमक्कड़ शास्त्र, रा.सां. पृ.–8
3. वही, पृ.83
4. राहुल सांकृत्यायन, प्रभाकर माधवे, पृ.–22

■

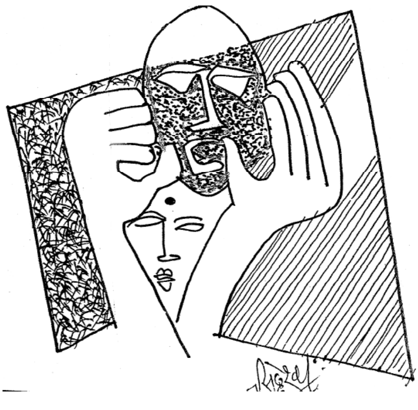

साहित्य चिंतन

कबीर काव्य में लोकतत्व

स्वाति सुलभ *

कबीर की सादगी लोक जीवन की छवि है। परिवार और समाज में व्याप्त लोक जीवन की पहली पहचान उसकी सरलता और सहजता है। इसमें परंपराओं की अंधी दौड़ भी शामिल है। यह विचारों की कुहोलिका और भावों का गुरुगांभीर्य स्वरूप नहीं। जिस तरह नदी की धारा अपनी मस्ती में बढ़ती है उसी तरह लोक जीवन की भाव संपदा सहज प्रवाहमान है। कबीर इसी में प्रविष्ट होकर जीवन और जगत के तथ्य और सत्य का उद्‌घाटन करते हैं तथा परम की यात्रा का मार्ग तलाशते हैं। बड़े ही प्रतीकात्मक अंदाज में कबीर काव्य में लोकतत्व अभिव्यक्त हुआ है। कबीर सहज लोकाचारों का स्वरूप अपने काव्य में निरूपित करते हैं जिससे जनजीवन का चेतन प्रभावित होता है। आम जनजीवन की धारणाओं, प्रस्थापनाओं से संपृक्त लोकतत्व कबीर के काव्य में बहुत खूबसूरती के साथ अनुस्यूत है। कबीर के काव्य में पतन की ओर ले जाने वाले लोकतत्व का बहिष्कार और स्वस्थ जीवनशैली की विभिन्न वातायन खोले गये हैं। उनके काव्य का लोकतंत्र सत्यानुभूति की उपलब्धता का मार्ग तलाशती है। सहज, सरल और कृत्रिमता से पूरी तरह मुक्त व्यक्ति कैसे परम का अनुसंधान कर सकता है यह कबीर काव्य में व्याप्त लोकतत्व का मार्मिक और मूल्यांकन संदेश है।

कबीर काव्य में लोकतत्व– प्रारंभिक जीवन से लेकर विकसित नगरीय जीवन तक की यात्रा का इतिहास इस बात को प्रमाणित करता है कि परिवर्तन और विकास मानव समाज के मूल में है। प्रारंभ में मनुष्य सहज, सरल और प्रकृति के निकट था परंतु वैज्ञानिक अनुसंधान और भौतिक संसाधनों के आविष्कार ने मनुष्य को प्रकृति से दूर और भौतिकता के निकट कर दिया। कृत्रिमता उसके जीवन का अंग बन गयी। इसके विपरीत मानव जीवन की सहज और सरल जीवन–पद्धति ही लोक जीवन की पहचान है। औद्योगिक और शहरीय सभ्यता को अंगीकार करने के कारण मनुष्य लोक से दूर अवश्य हो गया है, लेकिन उसके अचेतन मन में लोक के प्रति आकर्षण समाप्त नहीं हुआ और न ही प्रारंभिक परंपरा से प्राप्त लोकतत्व नष्ट हुए हैं। यही कारण है कि आधुनिक मनुष्य के विभिन्न

* **संपर्क** – शोधार्थी, हिंदी विभाग, बिनोद बिहारी महतो कोयलांचल विश्वविद्यालय, धनबाद।, Email Id: bheeshm15@gmail.com

क्रियाकलापों में उसके प्रारंभिक लोकतत्व के रूप समाविष्ट दिखाई देते हैं। 'लोक' एक ऐसा पद है जिसके भाव मनुष्य की अंतः चेतना और उसके आंतरिक अनुशासन पर टिके होते हैं। लोक बिल्कुल सहज स्वाभाविक समाज है जो गुरुगंभीर शास्त्रों, सम्प्रदायों से अपरिचित है। इसमें सामाजिक संस्कृति की झलक देखी जा सकती है। यदि यह कहा जाए कि सामाजिक संस्कृति की जड़ें लोक में सन्निहित हैं तथा उसमें विकसित और पल्लवित होती हैं तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। सामाजिक जीवन, उत्साह, त्योहार, रीतिरिवाज, जन्म, मरण के संस्कार, भाषा आदि बहुत व्यापक रूप में लोक की नींव पर ही खड़े हैं। इसलिए साहित्य और लोक का बहुत गहरा संबंध है। सच्चे अर्थ में साहित्य मानव जीवन का प्रतिबिंब है और लोक उसका हृदय।

लोक साहित्य की परंपरा उतनी ही प्राचीन है जितनी मानव जाति। ऋग्वेद, उपनिषदों, रामायण, महाभारत, पाणिनि की अष्टाध्यायी, कालिदास, भवभूति, माघ आदि संस्कृत आचार्यों के साहित्य से लेकर आदिकाल के सिद्ध मत के अनुयायियों की गूढ़ उलटबाँसियाँ, नाथ व जैनी जोगियों की चित्ताकर्षक वाणियाँ, अमीर खुसरो की रोचक पहेलियाँ, विद्यापति की पदावली आदि से लेकर मध्ययुग में लोक की धारा अपने चरमोत्कर्ष पर थी। इस युग में कई लोकनायकों का जन्म हुआ जिसमें कबीर का महत्वपूर्ण स्थान है। "इस लोक में बड़ी सम्भावनाएँ लुकी–छिपी–धारी हैं। यह प्राकृतिक खजाना है शक्तियों का। सभी प्रकार की शक्तियों का। शक्ति के सारे आयाम सुरक्षित पड़े रहते हैं यहाँ। अक्षय। आखुट। लोकनायक कभी बाहर से नहीं आया करते। भीतर से ही उत्पन्न होते हैं सदा। हुए हैं। प्राकृत शक्तियों को जानने–समझने वाले। इनके गर्भ से ही वे उत्पन्न होते हैं। नाभिनाल वद्ध। कबीर भी कोई अलग नहीं थे। वह लोक चेतना के ही संवाहक थे। लोकचेतस थे। लोक को चेतना देने वाले लोक वेदनाओं की उपज।"[1] यहाँ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन भी महत्वपूर्ण जान पड़ता है–"भक्तों की वाणियों के अध्ययन के लिए जो सामग्री व्यवहृत होती आ रही है, वह पर्याप्त नहीं है। हमें अभी तक ठीक–ठीक नहीं मालूम कि किस प्रकार सामाजिक अवस्थाओं के भीतर का आंदोलन शुरू हुआ था। इस बात को जानने का सबसे महत्वपूर्ण साधन लोकगीत, लोक कथानक और लोकोक्तियाँ है और उतने ही महत्वपूर्ण विषय हैं भिन्न–भिन्न जातियों और संप्रदायों की रीति–नीति, पूजा–पद्धति और अनुष्ठानों तथा आचारों की जानकारी।"[2]

अगर हम प्रारम्भिक काल से लेकर आजतक के साहित्य के इतिहास को देखें तो पता चलता है कि जिन साहित्यकारों ने अपने साहित्य में लोकतत्वों का समावेश किया वे लोकप्रिय हो गए और जिन्होंने लोकतत्व को महत्त्व नहीं दिया उनकी रचना सतही रह गई। उदाहरणार्थ गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' और आचार्य केशवदास के 'रामचंद्रिका' जैसे काव्यों में यही मूलभूत अंतर है। जहाँ पहले में लोकतत्व का समावेश है, वहीं दूसरे में नागर संस्कृति की कृत्रिमता दिखाई देती है।

कबीर ने अपने अनगढ़, अकृत्रिम और सरल भाषा में इतने गूढ़ रहस्यों को लोकमानस के समक्ष रखा जो कहीं अन्यत्र दिखाई नहीं पड़ता। कबीर काव्य की लौकिक भाषा ही उनके काव्य को महान बनाती है। उन्होंने किसी एक भाषा को अपना न बनाकर भाषा के ही हो गए। लोकभाषा के। लोकमानस के। हाशिए पर खड़े लोक के आखिरी व्यक्ति को उन्होंने अपने काव्यों के द्वारा समेटने का सफल प्रयास किया। उनका ज्ञान लोक की पीड़ाओं की पहचान करता हुआ पीड़ाओं के गर्भ से ही जन्मा है। लोकनायक के रूप में समूची भाव सत्ता के वाचन कबीर भाव सत्ता वेदना के वैध संतान हैं। लोकमानस के गहरी पारखी होने से उन्होंने लोकप्रचलित घटनाओं, क्रियाओं, भावनाओं को बड़े ही मार्मिक और रोचक तरीके से लोगों के समक्ष रखा है।

कबीर ने स्त्री जीवन तथा उसके हृदय की वेदना को बड़े ही मार्मिक ढंग से अपनी वाणी में पिरोया है। मध्यकालीन गीत काव्य में भारतीय नारी की ऐसी सजीली तस्वीर शायद ही कहीं मिलती हो–

"ए अंखियां अलसानी, पिया हो सेज चलो।
खंभ पकरि पतंग अस डोलै, बोलै मधुर बानी।
फूलन सेज बिछायी जो राख्यौ, पिया बिना कुम्हलानी।
धीरे पांव धरौ पलंगा पर, जागत ननंद–जिठानी।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, लोक–लाज बिछलानी"[3]

यह समूचा पद हमारे भारतीय समाज के पारिवारिक वातावरण और उसके संबंधों का बड़ा ही अर्थपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करता है। परिवार में ननद–जेठानी की कानाफूसी का सहज स्वरूप उद्घाटित है जिसमें पिया मिलन हेतु परिवार में स्त्री दबे पाँव जाती है। इसमें लोक जीवन की सहज गतिविधियाँ हैं, जिसको कबीर अपने काव्य में स्थान देते हुए प्रतीकात्मकता के साथ परमात्म मिलन और उसकी चाह को अभिव्यक्त करते हैं। साथ ही इस यात्रा में, इस पहल में जो बेवकूफियाँ सामने आती है उसकी ओर भी इशारा करते हैं। कबीर ने अपने समाज की बनावट और बुनावट को बहुत ही गहरे से पकड़ा था।

निर्गुण और आध्यात्मिक कबीर ने आत्मा और परमात्मा के मिलन और विरह को विवाह और विवाह की लोकरीतियों के द्वारा दर्शाया है–

"आये दिन गौने के हो मन होत हुलास
डोलिया उठाये बीजा बनवां हो जहां कोई न हमार"[4]

कबीर अपने काव्य में पारिवारिक रिश्तों और जीवन की अठखेलियों का चित्रण चटपटे मुहावरे और चितरंजन लोकोक्तियो के द्वारा बड़े ही सहज रूप में करते हैं। यहां ननद–भाभी के रिश्ते और उनके जीवन की अठखेलियों का एक उदाहरण प्रस्तुत है–

"हमरी ननंद निगोड़ित जागे।
कुमती लुकटिया नसि दिन ब्यापै, सुमति देखि नहिं भावै।'[5]

लोकज्ञान लोकवार्ता के माध्यम से लोकधर्म में परिणित होता है जो सर्वग्राह्य है। कबीर ने उसी लोक धर्म को अपनाया। हिंदू और मुसलमान दोनों को उसी कसौटी से कसने का प्रयास किया। अपने लोक धर्म में गूढ़ अध्यात्म की भी बात की और हिंदू–मुसलमान दोनों संप्रदायों में व्याप्त बाह्याचारों, आडम्बरों पर कुठाराघात किया। दूसरी ओर उन्होंने सामंजस्य और समन्वय स्थापित करते हुए कहा है–

"एक बूंद एकै मल मूतर एक चाम एक गूदा।
एक जाति थै सब उपजा कौन ब्राह्मण कौन सूदा।।"[6]

कबीर समाज के हर दरक को छूने का प्रयास करते हैं। हर कोने में घुसकर उसकी गंदगी को सूर्य की रौशनी में लाते हैं। उसमें फैली बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया है। हिंदू और मुस्लिम दोनों सम्प्रदायों में फैली संकीर्णताओं को सामने लाते हुए वह कहते हैं–

"हिंदू अपनी करै बड़ाई गागर छुवन न देई,
वेश्या के पायन तर सोवे यह देखो हिंदुआई।
मुसलमान के पीर औलिया मुर्गा–मुर्गी खाई,
खाला केरी बेटी व्याहे घरहिं में करै सगाई।"[7]

कबीर अपने देश की महानता का वर्णन करते हुए कहते हैं–

"हम वासी उस देश के, जहाँ बारह मास विलास।
प्रेम झरै विकसै कंवल, तेजपुंज परकास।।
हम वासी उस देश के, जहवां नहिं मास बसंत।
नीझर झरै महा अमी, भीजत हैं सब संत।।
हम वासी उस देश के, जहाँ जाति–वरन–कुल नाहिं।
सब्द मिलावा होया रहा, देह मिलावा नाहिं।।
हम वासी वा देश के, जहाँ पारब्रह्म का खेल।
दीपक जरै अगम्य का, बिन बाती बिन तेल।।"[8]

कबीर ने अपने विचित्र देश का वर्णन किया है जहाँ बारह महीने वसंत होते हैं। जहाँ प्रेम की निर्झर झरना बहती है। ज्योति पुंज की जहाँ अमृत वर्षा होती है। जहाँ पर जाति, कुल, वर्ण का विशेषत्व ही नहीं है। धरती और आकाश में जहाँ कोई अंतर नहीं। पारब्रह्म का आनंद जहाँ निरंतर लिया जा रहा हो। जहाँ दीपक बिन बाती और तेल का जलता हो। जहाँ प्रेम का प्रवास हो, कबीर उसी देश के वासी हैं।

ध्यातव्य है कि लोकतत्व में आम जनमानस की सहजता, सरलता, भावोच्छवास और तरलता समाहित होती है। वहाँ किसी भी प्रकार का बनावटीपन नहीं होता और न ही होती कोई फैशनपरस्ती। जो जैसा है वह समाज में व्याप्त धारणाओं, भावनाओं और आस्थाओं का अवलंबन लेकर आगे बढ़ता है। वो जो कुछ सामने रखता है उसमें हृदय का अनुभव से संपृक्त भावोदगार होता है। ऐसे ही लोकवाणी

का नायक कबीर काव्य का प्राण है। महान समालोचक हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसी बात को ध्यान में रखते हुए कहा है– "ऐसे थे कबीर। सिर से पैर तक मस्त–मौलाय स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़य भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचंडय दिल के साफ, दिमाग से दुरुस्तय भीतर से कोमल, बाहर से कठोरय जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वंदनीय। वे जो कुछ कहते थे अनुभव के आधार पर कहते थे, इसलिए उनकी उक्तियाँ भेदने वाली और व्यंग्य चोट करनेवाले होते थे।"[9] स्पष्टतः कबीर की साफगोई में लोकतत्व की अनुगूंज साफ सुनाई पड़ती है। जहाँ कहीं भी, कुछ भी लोक जीवन में गलत दिखा उसका उन्होंने प्रतिकार किया। सहज स्वाभाविक आत्म स्वीकृति के आधार पर पारंपरिक चलन की अठखेलियाँ लोक जीवन में सहज चलती रहती हैं। यहाँ आस्था का अंधा स्वरूप भी दिग्दर्शित होता है। यही कारण है कि समाज के हर वर्ग में चाहे वह हिंदू हो, मुसलमान हो, तुर्क हो या ईसाई सब की अपनी लौकिक प्रस्थापनाएँ व आचार–विचार हैं। कौन कितना सही है इस पर विचार करने की किसी को फुर्सत नहीं। एक धारा बही और लोग उसमें बहे जा रहे हैं। कबीर ने समाज के सहज प्रवाह में जो भी गंदा दिखा, उसे दूर करने का प्रयास किया। लोक जीवन में चल रही भ्रांतियों और उनके परिणामों पर लोकवाणी के स्वर में कबीर जब कहते हैं–

"चली है कुलबोरनी गंगा नहाय
सतुवा कराइन बहुरी भुंजाइन, घूंघट ओटे भसकत जाय।
गठरी बांधिन मोटरी बांधिन, खसम के मूंडे दिहिन धराय।
बिछुआ पहिरिन औंठा पहिरिन, लात खसम केमारिन धाय।
गंगा न्हाइन जमुना न्हाइनउ, नौ मन मैल लिहिन चढ़ाय।
पांच– पचीस कै धक्का खाइन, घरहुं की पूंजी आई गंवाए।
कहत कबीर हेत कर गुरु सों। नहीं तोर मुक्ती जाइ नसाय।"[10]

तो ऐसा प्रतीत होता है कि गंगा स्नान के प्रति एक लोक आस्था को लोकवाणी में प्रस्तुत करते हुए कबीर करारा व्यंग्य करते हैं और गंगा स्नान की व्यर्थता को इस अर्थ में सिद्ध करते हैं कि मन यदि गंगा जैसा निर्मल न हुआ तो भटकना निश्चित है। लाभ–हानि के इस सांसारिक बाजार में गुम हो जाना सहज स्वाभाविक है।

निष्कर्ष

कबीर के काव्य में लोकवाणी, लोकतत्व एक अनूठे प्रयोग और अद्भुत सारगर्भिता के साथ उद्घाटित है। लोक जीवन की छोटी–छोटी बात भी कबीर अपनी काव्य की धारा बना लेते हैं। इसमें पारमात्मिक अनुभवों की अनुभूति महसूस की जा सकती है। साथ ही लोक जीवन में फैली विद्रुपताएँ, अंधविश्वास और आडम्बरों पर सीधा कटाक्ष एक स्वस्थ जीवन दर्शन की ओर काव्य को ले जाता है।

लोकतत्व मानव जीवन की गतिशीलता का बोध कराते हैं। हमारे भारतीय जीवन एवं संस्कृति की पहचान लोक साहित्य से सहज हो सकती है। इसलिए

भारतीय संस्कृति या लोक के लुप्त होते तत्वों को और उसके आरंभिक रूपों को पुनः उद्घाटित करना होगा।

संदर्भ सूची :

1. खान, डॉ. एम. फिरोज, नई सदी में कबीर, आकाश पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, गाजियाबाद, 2009, पृ.–63
2. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद, मध्यकालीन धर्म साधना, इलाहाबाद, 1952, पृ.–94
3. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद, कबीर, राजकमल प्रकाशन, 2009, पृ.–158
4. प्रो. योगेश्वर, कबीर समग्र, प्रचारक ग्रंथावली परियोजना, वाराणसी, 2001, पृ.– 524
5. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद, कबीर, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, मुंबई, 1952, पृ.–184
6. दास, डॉ. श्यामसुंदर, कबीर ग्रंथावली, कल्पना प्रकाशक, दिल्ली, 2023, पृ.– 34
7. पाण्डेय, दर्शन, हिंदी साहित्यनुशासन, सहलेखन गीता प्रकाशन, 2005, पृ. – 9
8. वही, पृ.– 166
9. द्विवेदी, आचार्य हजारी प्रसाद, कबीर, राजकमल प्रकाशन, 2009, पृ.– 134
10. वही, पृ.– 135

■

भारतेंदु युगीन काशी की पत्रकारिता

डॉ. ध्रुव कुमार *

काशी, जिन्हें हम बनारस अथवा वाराणसी के नाम से भी जानते हैं, हिंदी प्रदेशों के उन नगरों में से है, जहां समाचार–पत्रों का प्रकाशन पहली बार हुआ. काशी से सर्वप्रथम जिस समाचार– पत्र का प्रकाशन हुआ, उसका नाम था– ' बनारस अखबार' यह एक साप्ताहिक समाचार पत्र था। इसकी जानकारी सबसे पहले राधाकृष्ण दास ने अपनी पुस्तक 'हिंदी भाषा के सामाजिक पत्रों का इतिहास' में दी है। काशी से हिंदी में सबसे पहले छपने वाले 'बनारस अखबार 'का जन्म सन् 1845 ई. के जनवरी में राजा शिवप्रसाद की सहायता से हुआ। यह पत्र लिथो में बहुत ही सस्ते कागज पर छपता था। इसके संपादक गोविंद नारायण रघुनाथ थत्ते थे. काशी के दूधविनायक मोहल्ले में उनका अपना प्रेस था और इसी प्रेस से हिंदी भाषा में 'बनारस अखबार' और उर्दू में 'बनारस गजट' का प्रकाशन होता था। बनारस अखबार 1872 ई. के आसपास तक प्रकाशित होता रहा' बनारस अखबार के बाद काशी से दूसरा अखबार 'सुधाकर' 1850 ईस्वी में प्रकाशित हुआ। राजा दरवाजा मोहल्ले में पंडित रत्नेश्वर तिवारी का रिकार्डर प्रेस था और यहीं से अंग्रेजी में 'द रिकॉर्डर' और हिंदी में 'सुधाकर' प्रकाशित होता था।

हिन्दी पत्रकारिता का भारतेंदु युग

काशी में हिंदी पत्रकारिता का नया दौर 1867 में तब शुरू हुआ जब भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपनी किशोरावस्था (मात्र 17 वर्ष की अवस्था) में 'कविवचन सुधा मासिक पत्रिका का शुभारंभ किया। इस पत्रिका का उद्देश्य हिंदी कविता का विकास करना था और इसने तीन वर्षों तक ब्रजभाषा कविता को खूब प्रश्रय दिया। पत्रिका हालांकि अनियमित हो गई थी, किंतु 3 वर्षों में 26 अंक निकलने के बाद यह पत्रिका पाक्षिक हो गई। कुछ वर्षों के बाद साप्ताहिक के रूप में प्रकाशित होने लगी और भारतेंदु हरिश्चंद्र के मृत्युपर्यंत 1885 तक प्रकाशित होती रही। 'कविवचन सुधा' कुल 18 वर्षों तक प्रकाशित होती रही और अंतिम वर्षों में भारतेंदु ने इसके संपादन का कार्यभार धड़फले जी को सौंप दिया था. इसका लक्ष्य हिंदी गद्य का उत्थान करना था। शुरू के वर्षों में इस मासिक पत्रिका का

* **संपर्क** – वरिष्ठ लेखक एवं पत्रकार। व्योम, पी डी लेन, महेंद्रू, पटना– 800006
मोबाइल – 9304455515

सिद्धांत वाक्य था– 'नित – नित नव यह कवि वचन सुधा सकल रस खानि/पीअहु रसिक अनंद भरि परम लाभ जिय जानि/सुधा सदा सुरपुर बसै सो नहीं तुम्हरे जोग/तासो आदर देहु अरु पीअहु माहि बुध लोग।'

जब यह पत्रिका पाक्षिक हुई तो इस सिद्धांत वाक्य के अतिरिक्त एक सिद्धांत वाक्य छपने लगा– 'खल जनन सो सज्जन दुखी मति होंहि, हरिपद मति रहै/उपधर्रा छुटै, स्वत्व निज भारत गहै, सब दुख बहै/बुध तंजहिं मत्सरि, नारि नर सम होंहि, जग आनंद लहै/तजि ग्राम कविता सुकविजन की अमृत वानी सब कहै।'

भारतेंदु हरिश्चंद्र संपादक और पत्रकार होने के साथ–साथ एक कवि और साहित्यकार भी थे. पत्रकारिता उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम था सो उन्होंने ' कविवचन सुधा' पत्रिका के माध्यम से लोगों में राष्ट्रीय – चेतना एवं सामाजिक और राजनीतिक चेतना जगाने का पूरा प्रयास किया। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने इस पत्रिका के माध्यम से ब्रिटिश सरकार का पुरजोर विरोध करते हुए जनता से स्वदेशी वस्त्र अपनाने का आह्वान किया और हिंदी को देश की भाषा बनाने पर बल दिया। इस पत्रिका ने हिंदी पत्रकारिता को नया स्वरूप और तेवर प्रदान किया। उन्होंने खड़ी बोली गद्य का समुन्नत रूप सामने रखा और हास्य– व्यंग्य को विकसित किया। यह पत्रिका लगभग 18 वर्षों तक प्रकाशित होती रही।

हरिश्चंद्र मैगजीन : 'हरिश्चंद्र मैगजीन' मासिक पत्रिका के रूप में 15 अक्टूबर 1873 को प्रकाशित हुई। भारतेंदु हरिश्चंद्र स्वयं इस मैगजीन के संपादक और प्रकाशक थे। इसके प्रकाशन की व्यवस्था काशी के दशाश्वमेध घाट मोहल्ले के डॉ. ई जे लाजरस के मेडिकल हॉल प्रेस में की गई थी। डॉ. लाजरस काशी के लब्धप्रतिष्ठ ईसाई नागरिक थे और भेलूपुर क्षेत्र के ऑनरेरी मजिस्ट्रेट थे। पत्रिका का वार्षिक मूल्य छह रुपये था। यह हर महीने की 15 तारीख को प्रकाशित होती थी। इसका मुद्रण साफ सुथरा और आकर्षक हुआ करता था। यह डिमाई चौपजी आकार में 24 पृष्ठों में छपती थी। इसका प्रत्येक पृष्ठ दो कॉलम का होता था। हिंदी की साहित्यिक पत्रिका होने के वाबजूद इसमें अंग्रेजी में भी लेख छापे जाते थे, जो भारतीय सांस्कृतिक विचारों से ओत– प्रोत होते थे। इसका पहला अंक– 24 पृष्ठों का दूसरा– 50, तीसरा – 20, चौथा – 16 और पांचवा अंक– 42 पृष्ठों का था, जबकि 6ठा, 7वां और 8वाँ अंक 24 – 24 पृष्ठ के निकले। इस पत्रिका की खास बात यह थी कि मुख्यपृष्ठ पर विषय–सूची अंग्रेजी में छपती थी। 15 मई, 1874 तक हरिश्चंद्र मैगजीन के कुल 8 अंक प्रकाशित हुए और इसके बाद जून, 1874 ईस्वी में इसका नाम बदलकर हरिश्चंद्र– चंद्रिका रखा गया। 'चंद्रिका' का आकार 'मैगजीन' से छोटा कर दिया गया किंतु प्रकाशन–क्रम मैगजीन से संबंद्ध रखा गया। भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा संपादित 'चंद्रिका' अगले छह वर्षों तक यानी 1880 तक हिंदी जगत के पाठकों को रसाप्यापित करती रही। भारतेंदु ने अपने मित्र पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के आग्रह पर इस

पत्रिका के संपादन–प्रकाशन का दायित्व 1880 ईस्वी में उनको सौंप दी. पंड्या ने इसका प्रकाशन जयपुर से किया। बाद में 1884 में भारतेंदु ने उनसे यह पत्रिका वापस लेकर स्वयं संपादन करने लगे किंतु दो ही अंक निकाल पाए थे कि उनका निधन हो गया।

भारतेंदु के संपादन काल में चंद्रिका में जो लालित्य था, वह मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के संपादन कला में नहीं था। चंद्रिका ने 8 वर्षों तक हिंदी भाषा और साहित्य की सेवा की। 'हरिश्चंद्र मैगजीन' और 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' नाम दो होकर भी एक ही पत्रिका थी। 'मैगजीन' के कुल आठ अंक प्रकाशित हुए जिनमें हिंदी भाषा और हिंदी साहित्य के विकास की प्रौढ़ता और साहित्यिक पत्रकारिता के विकास की झलक भी है।

'हरिश्चंद्र मैगजीन' के सभी लेखक भारतेंदु के समकालीन साहित्यकार थे और अधिकतर ऐसे साहित्यकार थे, जिनका हिंदी साहित्य के संवर्धन में उल्लेखनीय योगदान रहा है। इन लेखकों में बाबा सुमेर सिंह साहबजादे, कृष्णदेव शरण सिंह गोप, तोता राम, काशी नाथ खत्री, लाला श्रीनिवास दास, काष्ठ जिह्वा स्वामी, गदाधर सिंह, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, दामोदर शास्त्री, बिहारी लाल चौबे, नाथ कवि, शाह कुंदन लाल, मुंशी ज्वाला प्रसाद, गिरधरदास, शालिग्राम दास, पी जी बापू शास्त्री, लोकनाथ चौबे और श्री शरण प्रभृति आदि उल्लेखनीय हैं।

इस पत्रिका के प्रथम अंक के प्रथम पृष्ठ पर भारतेंदु हरिश्चंद्र संकलित और संपादित हठी कवि के 'राजा सुधा शतक' का धारावाहिक प्रकाशन आरंभ हुआ था। साथ ही गदाधर सिंह द्वारा बंगला से हिंदी में अनूदित कादंबरी उपन्यास का धारावाहिक प्रकाशन शुरू हुआ। इस अंक से भारतेंदु का नाटक धनंजय विजय, खत्रियों की उत्पत्ति शीर्षक से निबंध भी छपा।

इस पत्रिका में प्रकाशित उल्लेखनीय रचनाओं में लाला श्रीनिवास दास का तप्ता संवरण नाटक, श्री शरण का बाल विवाह प्रहसन, तोताराम का कार्तिकेत नाटक और मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या का 'प्रहलाद' नाटक विशेष रूप से उल्लेखनीय है. इसके अलावा इस पत्रिका में साहित्य की विभिन्न विधाओं पर पाठय सामग्री प्रकाशित होती थी लेकिन भारतेंदु हरिश्चंद्र के निबंध के रूप में प्रकाशित विचार इनमें सबसे महत्वपूर्ण थे या यूं कहें कि मेरूदंड थे। अधिकतर रचनाएं भारतेंदु हरिश्चंद्र की ही हुआ करती थी। आठ अंकों में उनकी कुल 113 रचनाएं प्रकाशित हुईं।

भारतेंदु की पत्रकारिता : भारतेंदु हरिश्चंद्र साहित्यिक, सामाजिक और वैचारिक रूप से काफी संपन्न और सबल थे. उन्होंने कविवचन सुधा के संपादन और प्रकाशन से पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया था। यह उनकी पत्रकारिता का प्रारंभिक काल था। 'हरिश्चंद्र मैगजीन' के संपादन तक उनकी दृष्टि स्पष्ट और व्यापक हो गई थी और अनुभव की गहराई भी आ चुकी थी इसलिए 'मैगजीन' में साहित्य और समाज को वे साथ–साथ लेकर चलते दिखाई पड़ते

हैं. उन्होंने सामाजिक चिंतन की दृष्टि से इस पत्रिका में साहित्यिक वैज्ञानिक राजनीति को धार्मिक विषयों पर लेख, समालोचनाएं, नाटक, इतिहास, उपन्यास, काव्य– संग्रह, गल्प, और हास्य–व्यंग्य को भरपूर स्थान दिया। हिंदी की यह पहली पत्रिका थी, जो इतनी विविधता के साथ प्रकाशित हुई. इससे पहले हिंदी पत्रिका के किसी संपादक ने ऐसा प्रयास नहीं किया था।

माना जाता है कि नियतकालिक पत्रिका और समाचार पत्र को विचारवाहक होना चाहिए, न कि समाचार प्रधान। संपादकीय लेख और अग्रलेख के माध्यम से यह मुखरित होता है। 'हरिश्चंद्र मैगजीन' पत्रकारिता के मूल स्वर यानी विचार की प्रधानता को अभिव्यक्त करने वाली पत्रिका थी। हालांकि इसके किसी भी अंक में संपादकीय नहीं लिखा गया, परंतु इसका प्रत्येक लेख विचार प्रधान रहा, जो समकालीन युग सत्य के संदर्भ में लिखा गया था. साहित्य, समाज और देश का हित चिंतन इसका प्रधान लक्ष्य था। लोगों के विचारों से अवगत होने के लिए संपादक के नाम पत्र प्रकाशित किया जाता था, जिसके अंतर्गत बाबा सुमेरसिंह साहबजादे, काशीनाथ खत्री और अनेक व्यक्तियों के विचारोत्तेजक लेख छपे. भारतेंदु हरिश्चंद्र में निर्भीकता और देश–समाज के प्रति मंगल भावना कूट– कूट कर भरी थी। यह उनके निबंधों से परिलक्षित होती है। उन्होंने हरिश्चंद्र मैगजीन के प्रथम अंक में 'यूरोप के प्रति भारतवासियों का पत्र' शीर्षक निबंध में प्रश्नोत्तर शैली में जो विचार प्रकट किया, वह उनकी राष्ट्रीय चेतना और निर्भीक पत्रकारिता का सबल प्रमाण है। उन्होंने अंग्रेजों से पूछा– 'आप इंग्लैंड के हो या हमारे? और उत्तर में लिखा–'इंग्लैंड के हैं, तो क्यों अपना घर–बार, साथी–संगति, अरोसी–परोसी और अपने यहां के सुख–आनंद छोड़कर यहां आ बसे? यदि आप हमारे हैं तो क्यों हमारे देश को इतना पीड़ित कर रहे हैं? क्यों हम लोगों के निमित्त अनिष्ट प्रयत्न करते और हम लोगों से क्यों इतनी घृणा रखे रहते हैं? आप किसी में हैं या नहीं? यदि आप संसार में हैं तो उसका सब प्रकार बुरा क्यों चाहते हैं?... आप किसी में नहीं हैं... आपकी स्तुति करें या निंदा? आपको साधु कहें या गुरु? 'यह अंग्रेजी हुकूमत पर बहुत बड़ा व्यंग्य प्रहार था.भारतेंदु हरिश्चंद्र में भारतीय संस्कृति के प्रति गहरी आस्था थी। वह भारतीय संस्कृति की बुराइयों का परित्याग करने के लिए समाज को परित्याग करने के लिए समाज को उद्बोधित करते थे और अपनी संस्कृति का परित्याग अनुचित मानते थे।

उन्होंने 'मैगजीन' में छद्म नाम (वाईएमडीसी) से अंग्रेजी लेख 'रिलीजन्स' में उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा संपन्न युवकों पर, जो धर्म को अंधविश्वास मानते थे, व्यंग्य करते हुए लिखा 'हमें यह देखकर खेद होता है कि हिंदू समाज में हिंदू धर्म का पतन हो रहा है। ब्राह्मणों ने औरंगजेब का स्थान ग्रहण कर लिया है। हिंदू धर्म उन सभी धर्मो से श्रेष्ठ है। इस जगती पर इस धर्म की समता रखने वाला कोई दूसरा धर्म नहीं है, परंतु हमारे प्रबुद्ध मित्र इसे अंधविश्वास की संज्ञा देते हैं।'

बालबोधिनी : भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी भाषा के विकास और उसके

उत्थान के लिए पत्रकारिता के माध्यम से कार्य तो किया ही वहीं वे नारी समाज के उत्थान के लिए स्वतंत्र रूप से प्रयास किया. उन्होंने नारी को समाज की प्रबल शक्ति के रूप में देखा और उन्हें शिक्षित करने, उसे पराधीनता से मुक्ति दिलाने तथा समय के साथ मुख्य धारा से जोड़ने के लिए जनवरी, 1874 में नई पत्रिका ‘ बालबोधिनी ’का प्रकाशन आरंभ किया। ’बालबोधिनी ’नारी जगत की पहली मासिक पत्रिका थी. 12 पृष्ठों की इस पत्रिका का सिद्धांत वाक्य था–’जो हरि सोई राधिका जो शिव सोई शक्ति/जो नारी सोई पुरुष या मैं कछु न विभक्ति/सीता, अनुसूया, सती, अरूंधति, अनुहारि/शीललाज विष्णु विषदिगुण लहौ सकल जगनारि,/पितु पति सुत करतल ललित ललना लोग पढ़े, गुनै, सीखें सुनै, नासे भवजग सोग/वीर प्रवसिनी बुधवधु होई हीनता खोय/नारी नर अरधंग की सांचहि स्वामिनी होय।

इस पत्रिका के प्रथम अंक के निवेदन (संपादकीय) में भारतेंदु ने लिखा – ’मेरी प्यारी बहनो! मैं एक तुम्हारी नई बहन बाल बोधिनी आज तुम लोगों से मिलने आई हूँ... मैं उस सबसे बढ़कर परमेश्वर से नित्य यह मनाऊंगी कि मेरे हिंदुस्तान की सारी स्त्रियां पढ़–लिखकर पुरुषों की सहभागिनी हो जाएं।’

इस पत्रिका का उद्देश्य भारतीय नारी समाज को सुरक्षित कर आदर्श नारी और पुरुषों की उत्तम सहभागिनी बनाना था। इसमें जो भी लेख छपे उन सभी में शिक्षापूर्ण तथा आदर्श नारी बनने का संदेश था। शीलवती सुलोचना की कथा, सती चरित्र, सीता–अनुसूया मिलन, कुलवधुओं की चेतावनी, पतिव्रत, शिशु पालन, आदि विषयों पर लेख छपे। इस पत्रिका का उद्देश्य भारतीय नारी को सुसंस्कृत और आधुनिक समय में साथ चलने में प्रशिक्षित करना था. भारतीय नारी का क्या स्वरूप है, इसकी चर्चा करते हुए एक लेख में भारतेंदु ने कहा– ’स्त्री जाति में लाज ही शोभा है, जिसको लज्जा नहीं वह कुल की स्त्री नहीं। पराए लोगों को देखकर घूंघट करना, लाज करना, और औरों से ना बोलना, आंखें नीचे किए रहना और अंग सिकोड़े रहना। यही इनकी शोभा है– ’नैना वही सराहिये जिन नैनन में लाज/बड़े भये और विष भर आवै कौने राज’।

इस पत्रिका में केवल नारी उपयोगी लेख छपते थे। वैसे इनमें भारतेंदु जी ने मुद्राराक्षस नाटक का भी धारावाहिक प्रकाशन किया था. भारतेंदु के अलावा इस पत्रिका के लेखकों में भारत में हरचंद के अतिरिक्त ऐश्वर्य नारायण सिंह, दामोदर शास्त्री, बिहारी लाल चौबे, गिरधर दास, सरयू प्रसाद और हीरालाल आदि प्रमुख थे। बाल बोधिनी 4 वर्षों तक छपती रही और दिसंबर 1877 के बाद उसका प्रकाशन बंद हो गया। यह पत्रिका ’नई चाल की हिंदी भाषा’ के प्रसार और भारतीय नारी को कुंठा और संत्रास से हटाकर आदर्श भारतीय नारी बनाने में इस पत्रिका का प्रयत्न सराहनीय है।

काशी पत्रिका : ’काशी पत्रिका’ का प्रकाशन काशी से 1875 में शुरू हुआ. इसके सम्पादक– प्रकाशक काशी के ही एक शिक्षक बाबू बालेश्वर प्रसाद थे।

यह विशुद्ध एक साहित्यक पत्रिका थी। बाद के दिनों में बालेश्वर प्रसाद जब डिप्टी कलेक्टर हो गए तो इसके संपादन का दायित्व लक्ष्मीशंकर मिश्र ने उठाया। उन्होंने इसे एक बालकोपयोगी पत्रिका का स्वरूप प्रदान किया. इस स्वरूप में यह पत्रिका इतनी चर्चित हुई कि इसकी प्रतियां विद्यालयों में खरीदी जाने लगी. इस पत्रिका की एक विशेषता यह थी कि प्रत्येक पृष्ठ पर दो कालम होते थे, जिनमें एक में देवनागरी और दूसरे में उर्दू में लेख छपा करते थे. इसमें भारतेंदु के 'सत्य हरिश्चंद्र' और 'कर्पूर मंजरी' नाटक छपे थे। इस पत्रिका में काशी में पारसी रंगमंच पर शकुंतला नाटक में शकुंतला का किरदार अच्छे से न निभाने पर नाटक की कड़ी समीक्षा प्रकाशित हुई थी। इस नाटक के दर्शकों में भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रमदा दास मित्र व अन्य प्रमुख लोग उपस्थित थे। काशी पत्रिका 1896 तक छपती रही।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के विराट व्यक्तित्व और उनकी साहित्यिक पत्रकारिता का असर उनके 1885 में निधन के बाद भी काशी से निकलने वाली पत्रिकाओं पर देखने को मिलता है. इनमें सरस्वती, इंदु, जागरण (पाक्षिक और साप्ताहिक) और हंस जैसी पत्रिकाओं के नाम उल्लेखनीय हैं।

सरस्वती : काशी से सन 1900 में मासिक 'सरस्वती' का प्रकाशन एक ऐतिहासिक घटना मानी जाती है। इंडियन प्रेस ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा से सरस्वती पत्रिका का संपादन करने का आग्रह किया. इस आग्रह को श्याम सुंदर दास ने स्वीकार किया. इसके लिए पांच सदस्यों की एक समिति बनाई गई और उसके प्रभारी का दायित्व श्याम सुंदर दास को सौंपा गया। इस पत्रिका के संपादन के लिए एक संपादक मंडल का गठन हुआ और जनवरी 1900 से इसका प्रकाशन आरंभ हो गया। जनवरी 1903 में इसके संपादन का भार पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी को दिया गया। सरस्वती विविध विषयों की साहित्यिक पत्रिका थी और उसने हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता को एक नया आयाम दिया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 1916 तक इस पत्रिका का संपादन किया। यह चर्चित और सम्मानित पत्रिका लगभग 82 वर्षों तक प्रकाशित होती रही।

इन्दु : हिंदी के छायावादी कविता का शुभारंभ जयशंकर प्रसाद से माना जाता है। काशी में 1909 में 'इन्द' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन छायावादी कविता के विकास का प्रमुख माध्यम था। अंबिका प्रसाद गुप्त इसके संपादक थे। सरस्वती के प्रकाशन के बाद हिंदी में साहित्यकार द्विवेदी जी के आचार्यत्व से खिन्न थे और वे कुछ अलग हटकर लिखना चाहते थे। इसके लिए उन्हें इन्दु सर्वोत्तम मंच मिला। यह पत्रिका 1909 से 1915 तक नियमित प्रकाशित होती रही। 1915 में यह बंद हो गई, फिर 11 वर्षों के बाद 1926 ईस्वी में यह पुनः प्रकाशित होने लगी, लेकिन कुछ दिनों के बाद इसका प्रकाशन फिर से बंद हो गया।

जागरण (पाक्षिक) : हिंदी पत्रकारिता को आगे बढ़ाने में 'जागरण पाक्षिक' का अपना स्थान है. प्रसिद्ध साहित्यकार व भाषाविज्ञानी शिवपूजन

सहाय के संपादन में 11 फरवरी 1932 को ' जागरण ' का प्रकाशन आरंभ हुआ. इसके प्रकाशक साहित्यकार विनोद शंकर व्यास के छोटे भाई प्रमोद शंकर व्यास थे. यह पत्रिका छह माह तक चली और इसके कुल 12 अंक निकले। 6 महीने बाद यह पत्रिका प्रेमचंद के जिम्मे आ गई और उन्होंने इसका साप्ताहिक प्रकाशन किया।

जागरण (साप्ताहिक) : पाक्षिक जागरण अल्पकालिक होने के बावजूद हिंदी पत्रकारिता की महत्वपूर्ण कड़ी साबित हुई। इसके 12 अंक ही निकले, किन्तु यह अपने समय की अत्यंत श्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिका थी। इस पत्रिका के संपादन– प्रकाशन का भार प्रेमचंद ने अपने कंधे पर लिया और उन्होंने 13 अगस्त 1933 को काशी से 'साप्ताहिक जागरण' का प्रकाशन प्रारंभ किया। उन्होंने इसे बड़े अच्छे ढंग से निकला। पहले यह साहित्यिक पत्रिका थी, प्रेमचंद ने इसे राजनीतिक–वैचारिक प्रधान पत्र बनाया। इसके प्रमुख लेखकों में नरेंद्र देव और संपूर्णनानंद भी थे। 1934 में इसका संपादक संपूर्णनानंद को बनाया गया। कुछ वर्षों के बाद में पत्र बंद हो गया।

मुंशी प्रेमचंद संपादित 'हंस' : यदि प्रेमचंद के मानस पुत्र 'हंस' की चर्चा न हो तो काशी की पत्रकारिता के स्वरूप और तेवर को समझना मुश्किल है। प्रेमचंद ने जयशंकर प्रसाद को एक पत्र लिखा– 'काशी से कोई साहित्यिक पत्रिका नहीं निकलती है। मैं कोई धनिक नहीं, मजदूर आदमी हूँ। मैंने पत्रिका निकालने का निश्चय कर लिया है।' हालांकि इसका नाम 'हंस' प्रेमचंद को जयशंकर प्रसाद ने इसके प्रकाशन से कई माह पूर्व सुझाया था।

प्रेमचंद द्वारा हंस के लिए कुछ धनराशि देने का प्रस्ताव महात्मा गांधी ने स्वीकार नहीं किया। प्रेमचंद ने भी अपने प्रस्ताव पर अधिक जोर नहीं दिया और अंततः हंस लिमिटेड का रजिस्ट्रेशन करवा कर हंस पत्रिका उसे सौंप देने का निर्णय हुआ। इस नई व्यवस्था के अनुसार भारतीय साहित्य के मुखपृष्ठ के रूप में अंश का पहला अंक अक्टूबर 1935 में प्रकाशित हुआ ' इस अंक में प्रेमचंद के साथ कन्हैयालाल मुंशी का नाम संपादक के रूप में प्रकाशित हुआ महात्मा गांधी ने हंस के संबंध में एक संदेश दिया जो उसने बराबर छपता रहा।

प्रेमचंद ने जिन शर्तो पर हंस सौंपा था उनमें एक शर्त यह भी थी कि हंस का मुद्रण उनके प्रतिष्ठान सरस्वती प्रेस में ही होगा और हंस लिमिटेड मुद्रण के लिए व्यापारिक दर पर भुगतान करेगी। कुछ मास उपरांत महात्मा गांधी की अध यक्षता में साहित्य परिषद की स्थापना बैठक हुई और हंस, परिषद को सौंप दिया गया। परिषद के कुछ सदस्य अनुभव कर रहे थे कि सरस्वती प्रेस में हंस का मुद्रण कराने पर अधिक खर्च होता है। कन्हैयालाल मुंशी को स्थिति से अवगत कराया गया। तब 4 जुलाई 1936 को भारतीय साहित्य परिषद की कार्यकारिणी की बैठक बुलाई गई जिससे इस समस्या का हल निकाला जा सके। 22 जून 1936 को मुंबई में कन्हैयालाल मुंशी और काका कालेलकर ने परस्पर विचार– विमर्श किया और इसके लिए तार देकर प्रेमचंद को भी बुलाया। प्रेमचंद मुंबई नहीं जा पाए क्योंकि वह 4 जुलाई को भारतीय साहित्य परिषद के सम्मेलन में वर्धा जाना

चाहते थे। 4 जुलाई 1936 को वर्धा में हुई मीटिंग में तय हुआ कि हंस का प्रकाशन मुद्रण सरस्वती प्रेस बनारस से हटाकर सस्ता साहित्य मंडल दिल्ली को सौंप दिया जाए। इससे परिषद को 50 रुपये की बचत हो सकेगी। सूचना मिली तो उन्होंने कन्हैया लाल मुंशी को पत्र लिखा और हंस के संपादक पद से इस्तीफा दे दिया। साथ ही उन्होंने निर्णय किया कि 'बीसवीं सदी' नाम से नई पत्रिका निकाली जाए। हंस का सितंबर 1936 का अंक निकालने के पश्चात 8 अक्टूबर 1936 को उनका जीवन हमेशा के लिए बुझ गया।

काशी के प्रख्यात राष्ट्रीय चेतना संपन्न हिंदी सेवी शिव प्रसाद गुप्त को जाता है. उन्होंने 1914 में अपने विश्व भ्रमण के दौरान लंदन प्रवास में 'लंदन टाइम्स' देखा। वे उससे इतने प्रेरित हुए कि उनके मन में यह विचार आया कि हिंदी भाषा में भी इसी तरह का उल्लेखनीय दैनिक समाचार पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया जाए। स्वदेश लौटने पर सबसे पहले उन्होंने 1919 में 'ज्ञान मंडल प्रकाशन संस्थान' की स्थापना की और अपने मित्रों से विचार– वमर्श के उपरांत हिंदी दैनिक 'आज' के प्रकाशन का शुभारंभ किया। 'आज' के प्रथम संपादक श्री प्रकाश और सहायक संपादक बाबूराव विष्णु पराड़कर थे। यह समाचार पत्र आज भी 105 वर्षों से काशी सहित देश के अन्य कई नगरों से प्रकाशित हो रहा है. काशी आज भी दैनिक समाचार पत्रों के प्रकाशन का प्रमुख केंद्र है। इन दिनों यहां से दैनिक आज के अलावा दैनिक जागरण, दैनिक हिंदुस्तान, अमर उजाला, संसार, सन्मार्ग, बनारस, गांडीव, हलचल जैसे दैनिक पत्रों के प्रकाशन हो रहे हैं.

संदर्भ–सूची :

1. भारतीय पत्रकारिता का इतिहास, लेखक – जयंत नटराजन, प्रकाशन विभाग (सूचना और प्रसारण मंत्रालय) भारत सरकार
2. भारतीय पत्रकारिता कल आज और कल, लेखक द्वय – सुरेश गौतम एवं वीणा गौतम, सत्साहित्य प्रकाशन दिल्ली
3. संपूर्ण पत्रकारिता, लेखक – डॉ अर्जुन तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
4. भारत में पत्रकारिता, लेखक – आलोक मेहता, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली
5. काशी का इतिहास, लेखक – डॉ मोतीचन्द्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
6. काशी नगरी एक – रूप अनेक (द्वितीय संस्करण), सम्पादक – ओम प्रकाश केजरीवाल, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली
7. काशी की हिन्दी पत्रकारिता, लेखक – धीरेन्द्रनाथ सिंह (आलेख)
8. बनारस की साहित्यिक परंपरा, लेखक – चंद्रकला त्रिपाठी (आलेख)
9. काशी कथा, त्रिलोक नाथ पांडे, प्रलेख प्रकाशन
10. देखो हमरी काशी, लेखक – हेमंत शर्मा, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली

■

नई कहानी

संवेदना और शिल्प

अनुपम *

नई कहानी के दौर में ऐतिहासिक कहानी विलुप्त होती हुई नजर आती है। अपने समय संदर्भों के निरंतर दबाव में रहने के कारण नये कहानीकार अतीत से हटकर अपनी नजर वर्तमान पर केन्द्रित करते हैं एवं वर्तमान अनेक चुनौतियों एवं विसंगतियों से भरा पड़ा है। युवाओं के समक्ष बरोजगारी की समस्या है, बेरोजगारी के लिए संघर्ष और उस संघर्ष से उपजी हुई हताशा, समाज में भ्रष्टाचार के प्रति बढ़ती हुई उदासीनता है और उससे उपजी हुई हताशा इत्यादि नई कहानी आंदोलन के प्रमुख कथ्य है। आधुनिक होते समाज में अपने जीवन–यापन हेतु घर से बाहर निकलती युवतियाँ हैं जिनका संपर्क बाह्य पुरुषों से होता है जिसमें आत्मीय संबंध भी बनते हुए दिखाई देते हैं लेकिन सामाजिक निशेधों एवं वर्जनाओं के कारण प्रेम संबंध असफल होते हुए दिखते हैं। इस प्रेम संबंधों की असफलता से उपजी हुई हताशा, नए कहानीकारों के लिए कथावस्तु का काम करती है। ''प्रेम संबंधों की असफलता से उपजी यह हताशा कृष्णा सोबती की 'बादलों के घेरे' और उषा प्रियंवदा की 'पचपन खंभे लाल दिवारें' में पर्याप्त विश्वसनीय रूप में उपस्थित है। पत्नी और प्रेमिका के बीच का तनाव राजेन्द्र यादव की 'कमजोर लड़की' का मूल कथ्य है। बेरोजगारी की हताशा और मोहभंग निर्मल वर्मा की इस दौर की कितनी ही कहानियों में अंकित है। अमरकान्त की 'डिप्टी कलक्टरी' प्रतीक्षा को हताशा में बदलने की प्रक्रिया को बेहद संवेदनशील ढंग से अंकित करती है। कामकाजी महिलाओं की समस्याओं और परिवार में उनकी बढ़ती हुई हैसियत को केन्द्र में रखकर इस दौर में अनेक महत्वपूर्ण कहानियाँ लिखी गयीं। देश के बाहर जाने के अवसर अपेक्षाकृत अधिक सुलभ हुए और विदेशी पृष्ठभूमि पर लिखी गई कहानियों में हिन्दी कहानी के कथ्य और संवेदना को अभूतपूर्व विस्तार दिया। यही वह समय था जब एक ओर घर–परिवार में परम्परागत रिश्तों पर पुनर्विचार और उन्हें पुनर्परिभाषित करने की प्रक्रिया शुरू होती है और दूसरी ओर अपरम्परागत और नई असंवेदनशीलता से विकसित रिश्तों को महत्व दिया जाने लगता है।''[1] नई कहानी आन्दोलन में परिवर्तन स्पष्ट रूप

* संपर्क – शोध–छात्रा, हिंदी विभाग, बिनोद बिहारी महतो कोयलांचल विश्वविद्यालय, धनबाद, झारखण्ड, मो.– 8210950756, Email- royanupam422@gmail.com

से दिखाई देती है। यह परिवर्तन कथ्य के स्तर पर भी है और संवेदना के स्तर पर भी।

स्वाधीनता के पश्चात बदली हुई परिस्थितियों में मठ, मंदिर, आश्रम, गांधीवादी संस्थान, भूदान योजना, धार्मिक साधु–संन्यासियों का आश्रम सबके प्रति नई कहानी तिरस्कार का भाव रखता है। यह यशपाल की तरह सिर्फ आर्य समाज और गांधीवाद पर तीखा कहानी नहीं लिखता बल्कि इन संस्थाओं के प्रति तिरस्कार का भाव नई कहानीकारों के मन में है। यही कारण है कि ''अपनी रचनावस्तु के इस विस्तार का ही परिणाम है कि नई कहानी में पहली बार आदिवासी और पहाड़ी अंचलों में ढेरो पात्र अपने वास्तविक रूप में दिखाई देते हैं। रेणु, शिवप्रसाद सिंह और मार्कण्डेय आदि परिवर्तित होते ग्राम–समाज की आकांक्षाओं, उल्लास और उत्सवप्रियता को अंकित करते दिखाई देते हैं। कुल मिलाकर यह बने–बनाये निष्कर्षों और सरलीकरणों के विरुद्ध अपने रचनात्मक विवेक का आधार लेकर विकसित होने वाली कहानी है।''[2] 'नई कहानी' परम्परागत आस्था एवं निष्ठा से मोहभंग की कहानी है। कथ्य एवं संवेदन की दृष्टि से यह कहानी आधुनिक भाव बोध की कहानी है। हर स्तर पर मोहभंग दिखाई देती है। वह समाज में पुराने विचार हो, परम्परागत संबंध हो, सामाजिक आदर्श हो या संस्थाएँ हो। इस मोहभंग से सर्वत्र हताशा की प्रवृत्ति है।

दूसरी भाषाओं के लेखकों ने 'नई कहानी' आन्दोलन में अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज करायी, वही आंचलिक लेखक भी इस आन्दोलन में सक्रिय थे, परिणाम यह हुआ कि विभिन्न अंचलों एवं क्षेत्रों के भाषिक अंतर–संबंध से एक भाषा की नई छवि बनी। इस तरह से नई कहानी के दौरान भाषिक क्षितिज का विस्तार होता हुआ दिखाई देता है, जो स्वाभाविक भी था। इस नये भाषिक क्षितिज में एक तरफ पंजाबी है तो दूसरी तरफ कुमाऊँनी। कहीं भोजपुरी है तो कहीं हिन्दी का आंचलिक रूप। इन सभी के मेल–जोल से नई कहानी अर्थवान बनती है। यह सत्य है कि आंचलिकता एवं क्षेत्रीय मोह की अतिरंजना के कारण कहानी की पठनीयता पर प्रभाव पड़ा एवं संप्रेषण की समस्या पैदा हुई जो स्वाभाविक भी था। ''चूँकि नई कहानी की अंतर्वस्तु ढोंग और विगलित प्रायः आदर्शो के विरोध को अपना प्रस्थान बिंदु मानकर रूपाकार ग्रहण कर रही थी, उसमें एक खास तरह का आवेश और आक्रामकता थी जिसे सीधी, बेलौस और रोजमर्रा की भाषा में ही अभिव्यक्त किया जा सकता था। यही कारण है कि पूर्ववर्ती पीढ़ी के लेखकों के तत्सम शब्दों के बाहुल्य वाली भाषा के स्थान पर अधिक सहज और अपनी अंतर्वस्तु की आवश्यकताओं को पूरा करने वाली भाषा के प्रति एक विशेष प्रकार की सजगता दिखाई देती है। ऐसा नहीं है कि इस भाषा का जन्म इसी नई कहानी के साथ हुआ हो। यह भारतेंदु और प्रेमचंद के गद्य का ही विस्तार था जिसमें परिष्कार करके उसे अपने अनुकूल बनाया गया। प्रसाद और उनके बाद के लेखकों ने जिस भाषा को अपनी ऐतिहासिक सांस्ककृतिक

पृष्ठभूमि वाली रचनाओं के लिए चुना था, उसे करीब–करीब त्याग कर एक अर्थगर्भ, सटीक और व्यंजनापूर्ण भाषा के विकास पर जोर दिया गया।''[3] नई कहानी के दौर में नूतन कथ्य एवं संवेदना को अर्थवत्ता प्रदान करने के लिए कहानी के रचना तंत्र में परिवर्तन होते चले गये। यह सर्वविदित है कि कहानी की अंतरवस्तु उसकी भाषा एवं अन्य उपकरणों को निर्धारित करती है।

अगर बिंब–विधान पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए तो नई कहानी आन्दोलन के सभी कहानीकारों में भावात्मक जटिलता को बिंबों के द्वारा प्रस्तुत करने की सजगता देखी जा सकती है। ''शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार' में निर्जन–वीराने में गुसाई के चक्की से निकलती भक्–भक् की आवाज बाहर बहती कोसी की सूखी धारा और पिसान के लिए खप्पर में अनाज डालकर बाहर निकलने पर आटे की उड़ती सफेदी में लिपटा उसका पूरा शरीर आदि बिंब उसके मन में बसी गहरी उदासी, अकेलेपन में रीतते जाने की पीड़ा को जितने सघन रूप में व्यक्त करते हैं उसे देखते हुए नई कहानी में बिंब–विधान की भूमिका को आसानी से समझा जा सकता है। निर्मल वर्मा और राजकुमार की अधिकांश कहानियाँ बिंब–विधान के कारण ही कविता जैसी भाव–सघनता उत्पन्न कर पाने में सक्षम है।''[4] नई कहानी में कहानी की अन्तर्वस्तु की जटिलता के कारण लेखकों का आकर्षण बिंब–विधान के प्रति अधिक है। यह स्वभाविक भी था क्योंकि कहानी के पात्रों के भावों एवं मनोदशाओं को सिर्फ वर्णनों एवं ब्यौरों के द्वारा उतने प्रभावी ढंग से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था जितना बिंब–विधान के माध्यम से।

नई कहानी का पुरानी कहानी से अपने को अलग करते हुए प्रामाणिकता और अनुभव के अपनेपन पर विशेश बल प्रदान करते हैं। इसे नये कहानीकारों ने भोगा हुआ यथार्थ कहा है। इस भोगे हुए यथार्थ को आधार बनाकर लिखी गई कहानियाँ अधिक विश्वसनीय एवं प्रामाणिक मानी जाती हैं। ''जिस जीवन और परिवेश को हम जानते नहीं, उस पर हम सार्थक और प्रामाणिक लेखन कैसे कर सकते हैं? सैद्धांतिक दृष्टि से यह बात एकदम ठीक थी औ इससे कहानी को विश्वसनीय और प्रामाणिक बनाकर उसे जीवन से जोड़ने या उसके निकट लाने में महत्वपूर्ण भूमिका भी अदा की। लेकिन जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट होगा कि इस अतिवाद से कहानी में आत्मपरकता बढ़ी, उसे सामाजिक–राजनीतिक संदर्भों से काट लिया गया और प्रामाणिकता एवं भोगे हुए यथार्थ के नाम पर उसे अनुभववाद की अंधेरी सुरंग में धकेल दिया गया।''[5] नई कहानी आन्दोलन के कहानीकारों का अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी के कहानीकारों से इस बात को लेकर विरोध था कि वे एक विशेष विचारों को आधार बनाकर उसके साये में कहानियाँ लिखते हैं जिसमें जीवन की वास्तविकताओं को उजागर करना मुश्किल होता है इसलिए उनकी कहानियाँ विश्वसनीय एवं प्रामाणिक नहीं मानी जा सकतीं।

मोहन राकेश की कहानियों के केन्द्र में पब, रेस्त्रा, डाक बंगला है। कृष्णबलदेव वैद के यहाँ भी पतनशील और जीवन का निषेध करने वाली स्थितियों पर आधारित कहानियाँ अधिक देखने को मिलती हैं। यह नूतन जीवन दर्शन नई कहानी आन्दोलन के कहानीकारों में देखने को मिलता है। "नई कहानी में अनुभव की प्रामाणिकता का नारा जल्दी ही अनुवाद में बदल गया। गार्डन रोडरमल ने इसे ही नई कहानी के अलगाव के विकसित होते 'दर्शन' से जोड़ते हुए टिप्पणी की है–"स्पष्टतः नई कहानी जीवन की जिस दृष्टि और समझ पर निर्मित हो रही है वह सामान्यतः प्रेमचंद की अपेक्षा जैनेद्र, अज्ञेय और कुछ सीमा तक यशपाल के अधिक निकट है। कहानियों का सामाजिक संदर्भ सिकुड़ता जा रहा है और तात्कालिक और वैयक्तिक भावनाओं पर आग्रह बढ़ता जा रहा है। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक मान्यताओं के प्रति एक संदेह का भाव व्याप्त हो गया है। अलगाव–बोध का साहित्य ही ऐसी किसी भी धारा की तार्किक परिणति है।"[6] अनुभववाद में नई कहानी की सीमाओं की तरह इशारा किया। हम पाते हैं कि मोहन राकेश और निर्मल वर्मा की कहानियाँ पतनशील प्रवृत्तियों वाली हैं जिसमें घर और परिवार के प्रति निषेध और अस्वीकार की भावना प्रबल है।

नये कहानी आन्दोलन के दौर में अनुभूति को वरीयता देने के कारण एवं परम्परागत आस्था एवं नैतिक मूल्यों को विघटन होने के कारण दाम्पत्य जीवन हो या पारिवारिक जीवन दोनों में ह्रास की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। कारण यह है कि नई कहानी में दाम्पत्य जीवन की सभी प्रकार की स्थितियों एवं पारिवारिक जीवन की समस्त विसंगतियों का चित्रण अनुभूतिपूर्ण शैली में हुआ है और कहानीकार सहज शैली पर बल देता हुआ दिखाई देता है। "नई कहानी में दाम्पत्य जीवन की प्रायः सभी स्थितियों एवं पारिवारिक जीवन की विसंगतियों का चित्रण अनुभूतिपूर्ण शैली में हुआ है। जहाँ तक शिल्प और शैली की बात है कहानीकार इसमें पूर्णतः सहजता पर बल देता है, अतः वह कहानी रचना के लिए पहले से किसी कथानक या घटनाक्रम को नियोजना करना अनुचित समझता है। इसलिए वह बिना किसी पूर्व योजना के किसी भी प्रसंग को एकाएक लेकर उसे संवेदनाओं के आधार पर प्रस्तुत कर देता है। वस्तुतः नई कहानी में कथावस्तु एवं घटना का स्थान संवेदना और अनुभूति ने ले लिया है। इसलिए इस पर आक्षेप किया जाता है कि इसमें कहानीकार या कथातत्व का ह्रास हो गया है जो एक सीमा तक सही है।"[7] दाम्पत्य जीवन में तनाव एवं विखराव स्त्री–पुरुष संबंध की स्वाभाविक परिणति नई कहानी में देखने को मिलती है। यहाँ तक की विवाहेतर संबंध नये कहानीकारों के लिए अस्वीकार नहीं रहती है। हम नारी चरित्र की सृष्टि संबंधी कहानियाँ, जो अपने देह की मांगों के प्रति अत्यंत सजग एवं संवेदनशील प्रतीत होती हैं, तलाक की समस्या भी लेकर नये कहानीकार उपस्थित होते हैं।

नये कहानीकारों ने भोगे हुए यथार्थ एवं वर्तमान जीवन संदर्भ को अपनी रचना में प्राथमिकता के तौर पर स्थान दिया। उससे उसका प्रभाव कई रूपों में

हिन्दी पर पड़ा। लेखकों के इस वर्ग ने राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के फलस्वरूप उपजे हुए दर्द, कुण्ठा और निराशा को ही भारतीय समाज और जीवन का आवश्यक अंग मान बैठा जो कि अर्धसत्य था। ''समाज—संदर्भ से हटकर ये लेखक एकांतिक रूप से व्यक्ति—मानव के मन की इन गुत्थियों का प्रदर्शन, विश्लेषण करने में लग गये। अपने—आप में डूबे, अपने ही भीतर झांकते, केवल व्यक्तिगत और एवनार्मल समस्याओं से अभिभूत इन कहानियों के पात्र विचित्र लगते हैं। इन्हें हर समय अपना 'व्यक्ति' संकटग्रस्त लगता है। मजे की बात यह है कि यही लोग आस्था और व्यापक मानवता की खूब बातें करते सुनाई पड़ते हैं।''[8]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अनुभूति की प्रामाणिकता के कारण यथार्थवाद स्वतः ही नई कहानी की प्रमुख प्रवृत्ति बन गयी है। साथ ही नई कहानियाँ जीवन की टटकी अनुभूतियों से साक्षात्कार करती हुई आगे बढ़ती हैं।

संदर्भ—सूची :—

1. मधुरेश, हिन्दी कहानी का विकास, सुमित प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1996, नवम संस्करण, 2018,, अलोपीबाग, इलाहाबाद पृ. 63
2. मधुरेश, हिन्दी कहानी का विकास, सुमित प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1996, नवम संस्करण, 2018,, अलोपीबाग, इलाहाबाद पृ. 65
3. मधुरेश, हिन्दी कहानी का विकास, सुमित प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1996, नवम संस्करण, 2018,, अलोपीबाग, इलाहाबाद पृ. 65
4. मधुरेश, हिन्दी कहानी का विकास, सुमित प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1996, नवम संस्करण, 2018,, अलोपीबाग, इलाहाबाद पृ. 67
5. मधुरेश, हिन्दी कहानी का विकास, सुमित प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1996, नवम संस्करण, 2018,, अलोपीबाग, इलाहाबाद पृ. 67
6. मधुरेश, हिन्दी कहानी का विकास, सुमित प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1996, नवम संस्करण, 2018,, अलोपीबाग, इलाहाबाद पृ. 70—71
7. गोपाल राय, हिन्दी कहानी का इतिहास—2, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2011, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली पृ. 460
8. देवीशंकर, अवस्थी, नयी कहानी संदर्भ और प्रकृति, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, नई, दिल्ली पृ. 58

■

साहित्य चिंतन

रामदरश मिश्र के साहित्य में वैश्विक परिदृश्य

कुमार मंगलम *

रामदरश मिश्र के साहित्य में व्याप्त वैश्विक परिदृश्य को मानवता के अनुगूँज के साथ उद्घाटित किया गया है।

रामदरश मिश्र के साहित्य में लोक विविध रंगों के साथ उपस्थित होते आया है मानो जैसे प्राणतत्व हो। किन्तु दूसरी तरफ मानवता की डोर में बांध समूचे विश्व को उन्होंने अपना गाँव समझा है। विश्व को परिवार के रूप में संकल्पना मिश्र जी ने अपने गुरुदेव हजारी प्रसाद द्विवेदी के तर्ज पर किया है। कविताओं में भाव स्वरूप विश्व प्रकट होती है और उपन्यासों में तर्क और ज्ञान के साथ। इस आलेख में मैं रामदरश मिश्र के साहित्य में उपस्थित वैश्विक परिदृश्य पर प्रकाश डाल रहा हूँ।

'निकल कहां से इसी समय तू प्रभा–बीज को बोता है?
नीरवता के अखिल राज्य में सकल विश्व जब सोता है।'

उपर्युक्त पंक्ति रामदरश मिश्र की कविता शीर्षक 'चाँद' से लिया गया है, जहाँ वह प्रकृति के घटक चाँद की खूबियों को पाठकों के समक्ष रखते हैं तथा इस बात पर जोर देते हैं कि जब पूरा विश्व सोते रहता है तब चंद्रमा प्रभा (प्रकाश) का बीज बोता है। चंद्रमा विश्व के आमजनमानस के लिये प्रेरणा श्रोत बनकर उभरा है।

'चाहता हूं मैं किसी के प्राण का विश्वास ले लूं'

'चल रहा हूँ' कविता शीर्षक में इस पंक्ति का उल्लेख है। जिसमें मिश्र जी इस बात पर जोर देते हैं कि गति से पथ का निर्माण होता है। उसके दरम्यान पूरी क्षितिज (धरती) की बात करते हैं।

'आज जो मेरी व्यथा है जग उसे उन्माद कहता
इस उजड़ते लोक को भी विश्व क्यों आबाद कहता'

कवि अपनी व्यथा को अपने मन के अंदर लेकर घुटते नहीं हैं, उसे जग के समक्ष जगजाहिर करते हैं। जग उसे उन्माद की संज्ञा देता है। वह प्रश्न करते हुए कहते हैं– इस उजड़ते लोक को भी विश्व क्यों आबाद कहता है। कवि का

* संपर्क – शोधार्थी, हिंदी विभाग, पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय पटना, ई–मेल : kumarmangalamranvir@gmail.com

सोच कहीं न कहीं विश्व से पृथक है।

'आज जो मैं गा रहा हूं विश्व समझेगा उसे कल
मोल जीवन का किसी के, जग मरण के बाद कहता।'

कवि इस बात पर विशेष बल देते हैं कि आज जो वह गीत के माध्यम से जो संसार को बता रहे हैं, उसे वह नहीं समझेंगे। उसका मोल मरण के बाद विश्व समझ पायेगा।

'तुम कहते हो व्यर्थ लूटा मैं, जग कहता नादानी पर देखो, बन गीत धरा के मेरी अमर निशानी'

रामदरश मिश्र का सहज एवं सरल स्वभाव का असर उनके कविताओं पर भी पड़ता है। व्यक्ति अगर अपने जीवन काल में भोला और सच्चा हो तो चातुर्य से भरी दुनिया उसे नादान समझती है। परन्तु जो गीत है उनके कोमल भावनाओं की देन है, जो अमर निशानी बनकर रहेगी।

'मैं ना किसी के मन का बंदी, सारी दुनिया मेरी
प्राण–प्राण पर बहने वाली
मेरी छाँह न बांधों!'

कवि का व्यक्तित्व स्वतंत्र होना चाहिये। रामदरश मिश्र कहते हैं कि मैं किसी के मन का बन्दी नहीं हूँ , दुनिया के किसी कोने में मैं विचरण कर सकता हूँ। यह कविता का अंश 'मेरी राह न बाँधों!' कविता से ली गई है। वह जीवन में किसी प्रकार के बंधन को स्वीकार नहीं करते।

'गाँवों से गगन की ओर उठते चक्कियों के गीत
जग से पूछते चुपचाप, मेरी हार है या जीत'

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि कई बार रामदरश मिश्र अपनी बातों की सम्पुष्टि के लिये कविता में जगत (दुनिया) से संवाद स्थापित करते हैं तो कभी दुनिया की मानसिकता की अवहेलना।

'पर आह!
मिल नहीं सकते
इस दो अंगुल की दूरी में
पूरा एक देशांतर तड़प रहा है!'

उपर्युक्त पंक्ति कविता शीर्षक सीमा–रेखा से ली गई है। इसमें साफ तौर पर कवि के अंदर की भारी कसक को महसूस किया जा सकता है। मनुष्य होने के नाते हमारा मन तो मिल सकता है किन्तु सीमा–रेखा का बंधन एक तरफ और मिलने की तड़प दूसरे तरफ। यह सीमा रेखा मानो हमें बांटने का प्रयत्न करता है।

'संगीत–भरी घाटियों में
विदेशी बंदूकों का अट्टहास'

उपर्युक्त पंक्ति 'घर जल रहा है 'कविता शीर्षक से लिया गया है। कश्मीर

की विभीषिका को प्रदर्शित करने के दरम्यान उन्होंने वैश्विक बाजार की परिदृश्य को हमारे समक्ष रखा है। बंदूकों के साथ कई आधुनिक हथियार राष्ट्र की रक्षा के नाम पे विदेशी सरजमीं से भारी संख्या में खरीदा जा रहा है।'

'आंखों में जिज्ञासा के पलते अनंत सपने हैं
निकल छाँह से घर की बाहर जलना सीख रहे हैं'
'कविता मनुष्यता का राग है
वह हमें जोड़ती है शेष जगत से'

कविता की महत्ता को दर्शाने की कोशिश प्रायः सभी कवियों ने अपने–अपने समय में किया है। रामदरश मिश्र कविता को मनुष्यता का राग मानते हैं। जो हमें जगत (संसार, विश्व) से जोड़ती है।

'इस तरह कुहरा उठाया आपने सुख–शांति का
फूल धरती से कटे, नभ से सितारे कट गए'

हम देखते हैं नब्बे की दशक से विमर्श का दौर चला, प्रकृति को लेकर जो साहित्य में विमर्श देखने को मिला। उस साहित्यिक छाता के नीचे पूरे विश्व को एकजुट होकर प्रेरणा लेनी चाहिये, जिससे प्रकृति हमारी संरक्षित रहे।

कई बार वैयक्तिकता की भावना परिवार, समाज, प्रदेश, राष्ट्र और विश्व के लिये अशांति का कारण बन जाती है। रामदरश जी 'अपने से अपने तक' रचना में यह भाव व्यंजित करते हैं।

वैश्विक शांति को कायम रखने में सभी निकम्मे नेता असफल साबित हो रहे हैं। सभी नेतागण राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर जुगलबंदी करते दिखते हैं किन्तु उसके उपरांत धरातल पर उनकी मनोस्थिति बदल जाती है। आज यूक्रेन–रूस और हमास–इजरायल के बीच के युद्ध को इस संदर्भ से जोड़कर देख सकते हैं।

'कंधे पर सूरज' काव्य का कवि नारों के शोर, आंदोलनों की गरमाहट, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पाने की ललक के लिये बनावटी भंगिमा के प्रयोग के बजाय वह लोक की संवेदनाओं को ही चुनता है।

'जंगलों से वैसे ही खाली दिशाएं झांकती है
बच्चे वैसे ही गंवई स्कूलों में पढ़कर
पब्लिक परीक्षाओं के लिए मूर्ख करार दिए जाते हैं
सभ्याचरण–विहीन अंग्रेजी–विहीन।'

रामदरश मिश्र अपनी कविता 'समय देवता' के माध्यम से यह स्पष्ट करते हैं कि अंग्रेजी भाषा से शिक्षित लोग ही जीवन की तमाम सुविधाएं एकत्रित कर पाते हैं।

'मलिंद लालटेन के प्रकाश में 'गुडअर्थ' पुस्तक लेकर बैठा था।'

उपर्युक्त पंक्ति रामदरश मिश्र के 'पानी के प्राचीर' उपन्यास से लिया गया है। उन्होंने इस पंक्ति के माध्यम से दर्शाया है कि हमारे देश के युवा–पीढ़ी

संचार–क्रांति से पूर्व पठन–पाठन के जरिये वैश्विक परिदृश्य को समझने की कोशिश करते थे।

'हवा जोरों से बह रही है, पानी लगातार हहरा रहा है। ताल में ऊंची–ऊंची लहरें उठ रही है। कोई न कोई चीज डूबती उतराती बहती चली जा रही है। कोई डाल है, कोई ड्रम है, किसी फूस की छत है, किसी आदमी या जानवर की लाश है। पानी इतना बलवान होता है इसका अनुभव वह आज पहली बार कर रहा है।'

उल्लेखित पंक्ति आकाश की छत से ली गई है जहाँ प्राकृतिक विभीषिका बाढ़ के भयावह रूप को उभारा गया है। आज हम अपने समय में पूरे विश्व को प्राकृतिक आपदाओं से लड़ते देख रहे हैं। तमाम आपदाएँ को पहली बार जब युवा पीढ़ी झेलता है तो वे उससे उपजे दंश को अनुभव कर पाते हैं।

'उसे पुस्तकों का कितना शौक रहा है– पेट काट–काटकर उसने पुस्तकें खरीदी है। हिंदी–साहित्य, इंग्लिश–साहित्य, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, इतिहास की चुनी हुई पुस्तकें खरीदता रहा है और अर्थशास्त्र तो उसका विषय ही रहा है।'

प्रायः हम देखते हैं कि कुछ छात्र अपने जीवन में संघर्ष करते हुये अपने विषय से इतर भी पुस्तकें पढ़ने के शौकीन होते हैं। किताबों के माध्यम से तमाम ऐसे विषयों को वह पढ़ते हैं, जिससे उन्हें वैश्विक परिदृश्य से जुड़ने का अवसर मिलता है।

'जो जितना दबता है दुनिया उसे उतना ही दबाती है। डटकर अन्याय का मुकाबला करो, दबाने वाले लोग स्वयं छंट जाएंगे।'

वास्तव में अगर हम ध्यान देते हैं तो पता चलता है कि पूरे विश्व में शोषक और शोषित वर्ग हैं। अन्याय के खिलाफ वह वंचितों को डंटकर मुकाबला करने के लिये प्रेरित करते हैं।

'यह सारे भूखें–नंगे लोग तो हमारे साथ हैं। इन्हें तुम कमजोर समझते हो? अरे नहीं, ये बहुत ताकतवर हैं। समाज की नींव तो ये ही हैं। जिस दिन हिलना शुरू कर देंगे, सारी दीवारें, छते हिलना शुरू हो जाएंगी, तहलका मच जाएगा और नींव के लोग निकलकर ऊपर आ जाएंगे और यह ऊपर के लोग मलबा बन जाएंगे।'

पूरे वैश्विक पटल पे दबे–कुचले वर्ग की महत्ता को रामदरश मिश्र स्वीकारते हैं। वह जानते हैं कि इन सबों के श्रम पर ही उच्च वर्ग का अस्तित्व टिका है। उन्हें कमजोर समझना महज भूल होगा। वे चाह जाने पर ताश की पत्ते जैसे उच्च वर्ग का नींव बिखेर कर धूल में मिला देंगे।

'मैं बकरी बनकर रहने वाली बड़ी जातियों की औरत नहीं हूँ। मैं अपने हाथों के बल पर जी सकती हूँ।'

आज स्त्री विमर्श को लेकर वैश्विक फलक पर विभिन्न संस्थाओं द्वारा वाद–संवाद स्थापित किये जा रहे हैं। रामदरश मिश्र भी अपनी रचनाओं के माध्यम से स्त्रियों के पक्ष को अपने पात्रों द्वारा सशक्त करते दिखाई देते हैं। निम्नवर्गीय

स्त्री उच्च कुल की स्त्री को बकरी की तरह परतंत्र मानते हैं।

'यह गुजरात है यहां लड़कियां उतने बंधन में नहीं होती, जितने बंधन में आपके यहां, यहां की लड़कियां अकेले कहीं भी जा सकती हैं।'

उपर्युक्त पंक्ति को भी स्त्री–विमर्श से जोड़ सकते हैं। जो खुलापन और स्वतंत्रता स्त्रियों को भारत के महानगरों में दिखता है, उससे अत्यधिक पश्चिमी विदेशी सरजमीं पर और कमतर इस्लामिक देशों में।

'दो परस्पर विरोधी मान्यताओं और मूल्यों की टकराहट सी केवल उपन्यास के कार्य का बल्कि चरित्रों का भी विकास किया गया है। प्रत्यक्ष रूप से चोकरमल और जगत के बीच की टकराहट में परोक्ष रूप से पूरे समाज की हिस्सेदारी है।'

कई बार वैश्विक स्तर पर विभिन्न मूल्यों और आदर्शों में वैचारिक टकराहट देखने को मिलती है। जहाँ परोक्ष रूप से पूरे समाज की भी हिस्सेदारी होती है।

'यहां तो मैं अकेली ही हूं मेरे माता–पिता तो अफ्रीका रहते हैं।'

जिस प्रकार गाँव महानगरों से जुड़ रहा है ठीक उसी प्रकार वैश्वीकरण के बाद विश्व परिवार में तब्दील हो विभिन्न देशों को आपस में जोड़ रहा है। 'आदिम राग' की पात्र रही रीता के माता–पिता अफ्रीका में रहते हैं, यह दिखा रहा है कि भारत के लोग अपने देश तक ही न सिमट कर पूरे विश्व में बसे हैं।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि रामदरश मिश्र के साहित्य में वैश्विक परिदृश्य भूमंडलीकरण, बाजारवाद, जीवन–संघर्ष, वर्ग–संघर्ष और आदर्शों व मूल्यों से जुड़कर उपस्थित होता है। कई बार ऐसा अनुभव होता है कि मानवता की रक्षा में कवि वैश्विक पटल पर सेतु बन खड़ा दिखता है। किन्तु उन्होंने तवज्जो हमेशा अपनी ही लोक–संस्कृति को दिया है।

संदर्भ–सूची :

1. प्रतिनिधि कविताएं–मिश्र रामदरश, निश्चल ओम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–2022
2. आकाश की छत–मिश्र रामदरश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,संस्करण, 2013
3. पानी की प्राचीर–मिश्र रामदरश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,संस्करण, 2018
4. आदिम राग– मिश्र रामदरश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2008

■

साहित्य चिंतन

समकालीन हिन्दी गजल में अस्मितामूलक विमर्श और वंचित समाज

दिव्या शुक्ला *

अस्मितामूलक अवधारणा एक नूतन अवधारणा है, जिसने आज व्यापक आंदोलन का स्वरूप ग्रहण कर लिया है। अस्मिता का अर्थ ही है 'अस्तित्व' या 'पहचान' अर्थात् समाज में किसी व्यक्ति का जो अस्तित्व या आत्मसम्मान होता है उसी का बोध होना अस्तित्वबोध है लेकिन उससे वंचित किये जाने पर जो चिंतन और लेखन साहित्य में किया जाता है वह अस्मितामूलक विमर्श कहलाता है। हमारे भारतीय समाज में सदियों से कुछ वर्गों के साथ सामाजिक भेदभाव और अन्याय किया जाता रहा है, जिसके कारण उन्हें तरह–तरह की यातना सहनी पड़ी है परन्तु ज्ञान–विज्ञान और शिक्षा के प्रचार–प्रसार के साथ उनमें भी अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता पैदा हुई है जिससे वे समाज में अपनी अस्मिता, अपनी पहचान और अपने अधिकारों के लिये लड़ाई लड़ रहे हैं। अपने अधिकारों से वंचित इन वर्गों में दलित, स्त्री, आदिवासी, बाल, वृद्ध, किन्नर आदि शामिल हैं जिनकी अपनी–अपनी समस्याएँ और अपनी–अपनी लड़ाई है। इस विमर्शात्मक आंदोलन के पीछे अनेक विचारधाराओं जैसे अस्तित्ववाद, उत्तर आधुनिकतावाद, उत्तर औपनिवेशिकतावाद, विखण्डनवाद तथा सबाल्टर्न दृष्टि का प्रभाव दिखाई देता है। हिंदी साहित्य में इस प्रकार की विमर्शों की शुरुआत अस्सी–नब्बे के दशकों में गद्य विधाओं मुख्यतः आत्मकथाओं में देखी जा सकती है। इसी तरह काव्य की भी स्थिति है। हालांकि गद्य और कविता की भाँति हिंदी गजलों में विमर्श किसी आंदोलन के रूप में नहीं दिखाई देता, लेकिन इन पर प्रचुर मात्रा में गजल और शेर लिखे गये हैं। गजल एक संगीतात्मक विधा है, जिसका अपना तेवर, अपनी संवेदना और अपना शिल्प–विधान होता है। वह अपनी शैली में विभिन्न शेरों में पिरोई गई माला के समान होती है, जिसके प्रत्येक मोती रूपी शेर एक–दूसरे से स्वतंत्र विषय–वस्तु के रूप में गुंथे होते हैं। चूँकि यह सत्य है कि प्रत्येक संवेदनशील रचनाकार की सहानुभूति और पक्षधरता वंचित और शोषित समाज के प्रति होती है। इसी तरह गजलकार भी अपने सामाजिक परिवेश से निर्मित होता है तो भला वह कैसे उस परिवेश से प्रभावित हुए वगैर रह सकता

* **संपर्क** – शोध छात्रा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी–221005, ई–मेल – divyashukla0937@gmail.com,

है? वह हर प्रकार के अन्याय और विसंगतियों का अपनी रचना के मोर्चे पर विरोध करता है गलत बात का खण्डन करता है और वंचितों–शोषितों के हक की बात करता है। अतः हिंदी काव्य में विमर्शों पर हो रही लेखन की बयार उसे भी स्पर्श करती है जिनकी अभिव्यक्ति वह अपनी सारगर्भित गजलों के माध्यम से करता है। एक शायर जगदीश भटनागर लिखते हैं–

"गजल रुदाद है नाकामियों की,
गजल महरूमियों की दास्तां है।
गजल रिसते हुये जख़्मों का मरहम
गजल एक चारा–ए–दर्दे निसां है।"[1]

प्रमुख गजलकार जैसे रामदरश मिश्र, डी. एम मिश्र, बल्ली सिंह चीमा, रामकुमार कृषक, कमलेश भट्ट कमल, भवानी शंकर, रोहिताश्व अस्थाना, राजेश रेड्डी, किशन तिवारी, माधव कौशिक, डी. एम. मिश्र, वर्षा सिंह, शिवनारायण, महेश अश्क, डॉ मधुरिमा सिंह आदि की गजलों में सबाल्टर्न समाज या कहें समाज में वंचना का दंश झेल रहे लोगों की पीड़ा और संत्रास को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।

यदि हम हिंदी गजलों के इतिहास पर संक्षिप्त दृष्टि डालें तो कह सकते हैं– हिंदी गजल ने अभी कुछ पाँच दशकों में अपना सुव्यवस्थित स्वरूप ग्रहण किया है, इसका आरम्भ अमीर खुसरो की हिंदी की गजलों या कहें कि उर्दू–हिंदी की मिली–जुली भाषा की गजलों से माना जाता है। तत्पश्चात् कबीर, भारतेंदु, निराला, शमशेर की परंपरा से होते हुये दुष्यंत के समय अपने उत्कर्ष पर पहुंचती है और यह सिलसिला आज भी अनवरत है। प्रारंभ में गजलों का मिजाज प्रेमपरक होता था। जैसा कि उर्दू शब्दकोश के अनुसार गजल का अर्थ 'औरतों से गुफ्तगू करना' है। इस तरह गजल प्रेमी–प्रेमिका के जज्बातों को बयाँ करने का माध्यम मानी जाती थी इसे नवाबों और शाही दरबारों में खूब चाव से सुना जाता था शराब–शबाब के बीच इसकी मजलिस लगती थी परन्तु धीरे–धीरे अपनी विकास की अवस्था में इसने स्वयं को दरबारी और शाही महलों से उतारकर आमजन के चबूतरे पर खड़ा कर दिया है। समय के साथ इसके विषय–क्षेत्र में खूब विविधता और व्यापकता समाहित हो गई है। इसी विविधता ने आज गजलों को जनमानस के बीच एक लोकप्रिय विधा के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है। आज हिंदी गजलों में सामाजिक, राजनीतिक सांस्कृतिक, मानवीय सभी विषयों के साथ अस्मितामूलक विमर्शों पर भी प्रचुरता में लेखन हो रहा है। हिंदी साहित्य में भी ऐसे प्रतिरोधात्मक स्वर विभिन्न आंदोलनों के रूप में दिखाई देते हैं प्रो. वशिष्ठ अनूप के शब्दों में –

'विगत कुछ दशकों में शिक्षा के प्रचार–प्रसार, वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास, आधुनिक भाव–बोध, अस्मिता–बोध और नवीन चेतना के कारण वंचित समाज में अपनी स्वतंत्र पहचान और अपने अधिकारों के लिये सजगता आई है। इसमें आदिवासी समाज, स्त्री समाज और दलित समाज अपने अधिकारों के लिये

विशेष रूप से जाग्रत हुआ है।'[2]

इस कथन को यदि हम गौर से देखें तो वास्तव में ये समुदाय (स्त्री, दलित और आदिवासी) हमेशा से उपेक्षित और वंचना के शिकार रहे हैं। शनैः शनैः उत्तर आधुनिकता, ज्ञान–विज्ञान और नवीन चेतना के प्रभाव से इन सभी उपेक्षित वर्गों में जाग्रति आयी। ये सामाजिक और सामुदायिक रूप से अपनी आवाज उठाने लगे तथा अपने अधिकारों और दुःख–दर्द के स्वयं प्रवक्ता बन गये। उनका चिंतन और उनकी अभिव्यक्ति आज विमर्श और अनेक जनांदोलनों का रूप धारण कर चुके हैं। जिन्हें साहित्य की विभिन्न विधाओं की भांति काव्य विधा में देखा जा सकता है। हिंदी गजलें भी अपने शैल्पिक दायरे में रहकर समाज के वंचित वर्ग की पीड़ा और उसके संघर्ष को मुखर स्वर प्रदान करती है। वह समाज का आइना बनकर पीड़ित, शोषित, उपेक्षित, पददलित, अपमानित, दबे–कुचले लोगों की आवाज बन रही है। समाज की प्रत्येक विसंगति पर उसकी नजर है। जिसे शिवओम 'अम्बर' के शब्दों में और स्पष्ट रूप में समझ सकते हैं। –

'आज की हिंदी गजल किसी सुर्ख नाजनीन की ईगुरी हथेली पर अंकित मेहंदी की दंत कथा नहीं युवा आक्रोश की मुट्ठी में थमी हुई प्रलयकारी मशाल है। वह रनिवास की स्त्रियों के साथ की गई किसी रसिक की रति वार्ता नहीं, भाषा के भोजपत्र पर विप्लव का अग्नि विचार है। गुलाब की पंखुड़ी पर क्रांति की कार्यिका लिपिबद्ध है।"[3]

गौरतलब है कि दुष्यंत के समय में सबाल्टर्न साहित्य या विमर्श जैसा कोई आंदोलन नहीं चल रहा था परंतु राजनीतिक शोषण के विरोध में तथा वंचित समाज के प्रखर प्रवक्ता के रूप में दुष्यंत की गजलों में भी अनायास आये हुये ऐसे लक्षणों को हम देख सकते हैं क्योंकि कुछ रचनाकार कालजयी होते हैं वे आज भी प्रासंगिक हैं... जहाँ वे पूंजीवादी व्यवस्था में एक ओर विलासिता का जीवन जी रहे लोगों द्वारा संसाधनों के अपव्यय पर आक्रोशित हैं तो दूसरी ओर एक–एक रोटी के लिये मोहताज भूखे–नंगे लोगों की बदहाल स्थिति पर संवेदना व्यक्त करते हैं कि जो समाज में वंचित हैं वह गरीबी का दंश भी झेल रहा है...

"हम ही खा लेते सुबह को भूख लगती है बहुत
तुमने बासी रोटियाँ नाहक उठाकर फेंक दीं।"[4]

दुष्यंत जनता के कवि थे उन्होंने जनमानस की पीड़ा को महसूस किया और अपनी गजलों के माध्यम से अभिव्यक्त किया। वे जरूरतमंदों और अधिकारों से वंचित किये गये लोगों की बात करते हुये सत्ता पर व्यंग्य करते हैं...

"दरख्त हैं तो परिंदे नजर नहीं आते,
जो मुस्तहक हैं वही हक से बेदखल लोगों।"[5]

दुष्यंत कुमार के बाद तो उनसे प्रभावित होकर अनेक कवियों ने अपनी अभिव्यक्ति के लिये गजलों का रास्ता अपनाया। आज समकालीन हिंदी गजल लिखने वालों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है और कुछ गजलकार बहुत अच्छी गजलें

लिख रहे हैं। विमर्श का अर्थ तो 'सोच विचारकर तथ्य या वास्तविकता का पता लगाना' होता है। वर्तमान में केवल स्त्री–दलित ही नहीं बाल, वृद्ध, आदिवासी सभी प्रकार के विमर्श साहित्यकारों का ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

स्त्री विमर्श गजलों में विकास के साथ आया है। स्त्रियाँ सृष्टि रचना के आरम्भ से ही पुरुषों की सहगामिनी रही हैं तभी तो प्रारंभ में हमारा समाज मातृसत्तात्मक था। वर्तमान में भी उन्होंने अपनी प्रतिभा तथा त्याग से बड़े से बड़े कार्य सम्पन्न किये हैं परन्तु हमारे समाज ने हमेशा उन्हें हय दृष्टि से देखा, उनका शोषण किया, घर हो या कार्यस्थल उनके साथ दोयम दर्जे का व्यवहार होता रहा है। कभी उन्हें कोख में मार दिया गया, कभी दहेज के नाम पर प्रताड़ित किया गया, कभी उनकी अस्मिता लूटी गई, कभी जलाया, कभी आत्महत्या के लिये मजबूर किया गया। उन्हें उनके अधिकारों से हमेशा वंचित रखा गया और तरह–तरह की मर्यादाओं के बंधन में जकड़ दिया गया। एक पिता, जो गरीब है वह सामाजिक कुरीतियों से इतना भयभीत रहता है कि लड़की के पैदा होते ही उसकी सुरक्षा, ब्याह, दहेज की चिंता सताने लगती है। संवेदनशील रचनाकार भी कुछ ऐसा ही महसूस करता है और सवाल करता है कि क्या लड़की होना पाप है? लड़कियाँ खिलौना है या खूंटे से बँधी गायें हैं? जिनके साथ मनमाना व्यवहार करते रहो?...

"कहीं तलाक कहीं अग्नि परीक्षाएं हैं,
आज भी इन्द्र हैं, गौतम हैं, अहिल्याएं हैं।
ये ब्याह–शादियाँ हैं खेल गुड्डे–गुड़ियों के,
कहीं भी हांक दो खूंटे से बँधी गायें हैं?"[6]

इसी प्रकार प्रमुख गजलकार रोहिताश्व अस्थाना ने भी दहेज उत्पीड़न से डरी–सहमी बहू की स्थिति से मर्माहत होकर लिखते हैं–––

"कम है दहेज सब की जुबान पर यह बात है,
भोली बहू के हाथ का कंगन उदास है।"[7]

वर्तमान समय में पूँजीवादी बाजारवाद ने जिस तरह से स्त्रियों को विज्ञापन की वस्तु बनाकर परोसना शुरू किया है वह नारी को सशक्त नहीं बल्कि उसकी क्षमता को संकीर्ण बनाने का काम कर रहें। गजलकार कमलेश भट्ट 'कमल' ने सही ही कटाक्ष किया है...

'मर्दों के हाथ औरत बाजार हो रही है
औरत का गम नहीं ये मर्दों की त्रासदी है।"[8]

सचमुच ये इंसानियत पर ही सवाल खड़ा करता है। वहीं महिला गजलकार वर्षा सिंह ने एक स्त्री के जीवन की अनेक समस्याओं और अनुभवजन्य त्रासदियों को अपनी गजलों के माध्यम से व्यक्त करती हैं। अजीब विडंबना है कि पहले तो पढ़ने–लिखने की आजादी ही नहीं मिलती अगर कोई लड़की पढ़–लिखकर विचारशील, तर्कशील हो जाती है और अपने अधिकारों की बात करने लगती है

तो पुरुष समाज के लिये यह असहनीय हो जाता है। वह उसका सशक्त रूप कई बार स्वीकार ही नहीं कर पाता। इसी कारण किसी न किसी प्रकार से उसे नीचा दिखाने का प्रयास करता है। आज पढ़ी–लिखी लड़कियों के समय से विवाह हो पाना भी एक बड़ी चुनौती बन रही है अगर लड़की की उम्र अधिक हो जाती है तो लोग उसे भी तिरस्कृत निगाह से देखने लगते हैं। यह पीड़ा बयान करते हुये कवयित्री वर्षा सिंह ने शेर अर्ज किया है...

"माँग कोरी आयु पैंतीस हो चली है,
क्या कहे वर्षा व्यथा उन बेटियों की।
चोटियों में दर्द के धागे गुंथे हैं छोर तक
खोखली मुस्कान ओढ़े जा रही हैं लड़कियाँ।"[9]

वहीं गजलकार डी. एम. मिश्र न केवल पढ़ी लिखी बल्कि गाँवों में रहने वाली घर–बार सम्हालने वाली, खेत–खलिहान में अपने परिश्रम से अन्न उगाने वाली, बोझा ढोकर अपने परिवार को पालने वाली, अनेक कठिनाइयों के बीच भी किसी के आगे भीख न मांगकर मेहनत–मजदूरी से जीवन यापन करने वाली महिलाओं की तारीफ करते हैं साथ ही वहाँ भी सौंदर्य खोज लेते हैं। वे लिखते हैं...

"बोझ धान का लेकर वो जब हौले–हौले चलती है,
धान की बाली कान की बाली दोनों संग संग बजती है।"[10]

हर युग में हर काल में समाज में कुछ लोग, समुदाय, जातियाँ राजनीतिक या सामाजिक व्यवस्था की कुरीतियों की शिकार होती रही हैं। भारत के परिप्रेक्ष्य में हम देखें तो वैदिक काल के बाद जातिप्रथा विकृत रूप धारण करती गई। ऊँच–नीच, छुआछूत जैसी बुराइयाँ इतनी बढ़ गईं कि समाज का एक बड़ा तबका अपने–आपको बहिष्कृत समझने लगा उसे विभिन्न अधिकारों से वंचित कर दिया गया। वहीं से धीरे–धीरे दलित की अवधारणा ने जन्म लिया। शिक्षा–संचार के प्रचार–प्रसार से जब इन वंचित तबकों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता आयी तो इनमें प्रतिरोध की तीव्र भावना ने जन्म लिया और इन्होंने लिखना शुरू किया। इनके द्वारा या इनके दुःख–दर्द पर लिखा जाने वाला साहित्य 'दलित विमर्श' कहलाया। गौरतलब है कि हिंदी गजल भी अपने समय के सापेक्ष परिर्वतनों को ग्रहण करती रही है अतः इनमें भी हम वंचित वर्ग के लिये आवाज उठाती गजलें देख सकते हैं...

समकालीन गजलकार रामदरश मिश्र ने इस दर्द को अपनी गजलों में प्रतिरोध के साथ व्यक्त किया हैं...

"हुई है तेज मंदिर में अगर की खुशबू
कोई सा गाँव अछूतों का फिर फुंका होगा।"[11]

यह हमारे समाज की कड़वी सच्चाई है कि उसने इंसानों को जाति में बाँटकर कहीं उसका मंदिर में प्रवेश निषिद्ध कर दिया तो कहीं एक नल में पानी भरने के अधिकार से वंचित कर उनके सम्मान और अस्मिता के साथ भी खिलवाड़

किया है। प्रसिद्ध गजलकार सूर्यभानु गुप्त का एक शेर द्रष्टव्य है –

"भरती है डोम के घर सच्चाई अब की पानी,
झूठों के हाथों आया एक इंतिजाम जंगल।"[12]

भेदभाव के कारण इन समुदायों के लोगों को शिक्षा, स्वास्थ्य, उच्च रहन–सहन से भी वंचित रखा गया और वे न चाहते हुए भी केवल उन्हीं कामों को करते रह गये जो उनके लिये निर्धारित कर दिया गया। वो बदहाली से उबर ही नहीं पाये जिससे उनका विकास अवरुद्ध हो गया है। किसी गजलकार की पंक्तियां हैं–

एक जुलाहे को जब देखा फटे हुये कपड़ों में
सारे सपने चूर हो गये रेशम बुनते–बुनते।

यह शर्म की बात है कि छुआछूत की बात करने वाली उच्च जातियों ने दलितों की स्त्रियों के साथ दुष्कर्म करने में कोई दूरी नहीं बनायी उनकी बहू–बेटियों के साथ अन्याय करने वाले ऐसे छद्मवेश धारी लोगों को महत्वपूर्ण गजलकार बल्ली सिंह चीमा कटघरे में लेते हुये कहते हैं...

"अब भी पंडित रात में सिलिया चमारन को छलें
दिन में ऊँची जातियों के गीत गायें गाँव में।"[13]

गजलकार किशन तिवारी ने भी ऐसे ही सवाल उठाये हैं कि क्या जात ही सबकुछ है? मनुष्य के रूप में जन्मा जीव कुछ नहीं? इंसानियत कुछ नहीं? प्रतिभा, मेहनत कुछ नहीं? गजलकार प्रतिरोधी स्वर में कहता है–

"आपको मुझसे शिकायत है कि मेरी जात से
नाम, मजहब, रंग से तुमने चुना चेहरा मेरा?"[14]

महत्वपूर्ण जनकवि अदम गोंडवी भी अपनी गजलों में उपेक्षित और दलितों के प्रति संवेदना व्यक्त करते हुये कहते हैं–

'सदियों से जो रहे उपेक्षित, श्रीमंतों के हरम सजाकर,
उन दलितों की करुण कहानी मुद्रा से रैदास लिखेंगे।"[15]

हालांकि आज जन जागरुकता और शिक्षा के प्रसार ने काफी हद तक लोगों में समानता लाने और इन कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया है। फिर भी ये बुराईयाँ अपनी जड़ें इतनी गहरी कर चुकी हैं कि इनका असर आदिवासी समाज तक को अपनी जद में ले रखा है। जी हाँ स्त्री–दलित के बाद अस्मिता मूलक विमर्शों में आदिवासी विमर्श पर भी अब जोरों की जिरह होने लगी है। रामदयाल मुंडा, निर्मला पुतुल, वंदना टेंटे और अनुज लुगुन प्रमुख आदिवासी साहित्यकार के रूप में जाने जाते हैं। उनकी कविताओं में आदिवासी समाज का दुःख–दर्द छलकता है। वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास के दुष्परिणाम सबसे अधिक आदिवासी जाति और जनजातियों ने झेला है। अपने जल–जंगल–जमीन से प्रेम करने वाली, उन्हें संरक्षित करने वाली तथा शांतिपूर्ण अपनी संस्कृति और परंपरा को बचाये रखने वाली इन जातियों को हमेशा विस्थापन का दर्द सहना

पड़ा। आज भी ये अपनी ही भूमि से बेदखल कर देने पर बहिष्कृत सा जीवन–यापन करने को मजबूर हैं। अतः साहित्य ने इनकी समस्याओं, कष्ट, संत्रास को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है तथा विकास के नाम पर हो रहे अंधाधुंध निर्वनीकरण, जल प्रदूषण आदि के लिये सरकार और तंत्र को दोषी ठहराया है।

भवानी शंकर के एक शेर में कुछ इसी प्रकार का दर्द छलका हैं...

"खून से सींचा था तुझको इसमें कोई शक नहीं
और अब पानी की बूंदों पर भी मेरा हक नहीं?"[16]

पौराणिक कथाओं में भी आदिवासी समुदाय की प्रखर प्रतिभा का वर्णन हमने देखा है महाभारत काल में एकलव्य जैसा शिष्य आज भी याद किया जाता है। जिसके साथ निचली जाति का होने के कारण ही अन्याय किया गया। फिर भी वो अपनी त्याग और प्रतिभा का लोहा मनवा ही लेते हैं।

"कितने अनपढ़ भी हैं देखे, कबीर होते हैं
गरीब लोग भी दिल के अमीर होते हैं।
ऐसे बच्चे भी हैं एकलव्य सरीखे यारों,
जो जमाने के लिये एक नजीर होते हैं।"[17]

जहाँ एक ओर हम एकलव्य जैसे शिष्य की गुरुभक्ति और निष्ठा की प्रशंसा करते हैं वहीं द्रोणाचार्य जैसे शासन व्यवस्था की चाटुकारिता और दबाव के कारण योग्य शिष्य का अहित करने वाले छली गुरुओं की निंदा भी करते हैं। डॉ. मधुरिमा सिन्हा ने भी अपनी गजलों में इस तरह के सवाल उठाये हैं और उनपर व्यंग्य करती हुई कहती हैं...

"अब क्या करेंगे जान के लाशों की गिनतियाँ,
सिर पर घरों के चीखती चीलों की बात हो।
फिर से अंगूठे ज्ञान के संधान में कटे
अब भी यहाँ हैं द्रोण तो 'भीलों' की बात हो।"[18]

जब शासन सत्ता के अत्याचार बढ़ जाते हैं तो एक न एक दिन विद्रोह की ज्वाला धधक ही उठती है। कवयित्री भावना का शेर है कि 'कभी तो आग निकलेगी यहाँ से, वो पत्थर को रगड़ता जा रहा है।' इतिहास में दृष्टि डाली जाये तो हम पाते हैं कि आदिवासियों ने अपनी मातृभूमि और प्रकृति की सुरक्षा के लिये अनेक विद्रोहों और आंदोलनों को अंजाम दिया है फिर चाहे तानाशाही अंग्रेजी सरकार की हो या फिर स्वतंत्र भारत की सरकारी तानाशाहों की हो। अगर उन्हें उनके जल, जंगल, जमीन से निष्कासित किया जाएगा तो वो भी सियासत का बदला सियासत से ही लेंगे।

"जंगल को साथ लेकर ये घेरेंगे शहर को,
इन आदिवासियों की सियासत तो देखिए"[19]

इसी प्रकार प्रतिष्ठित गजलकार माधव कौशिक वंचित समाज के हक और

हकूक की तरफदारी करते हुये समानता जैसे सिद्धांतों पर प्रश्नचिन्ह खड़े करते हैं कि आखिर ये जमीं और आसमां क्या किसी एक वर्ग तक सीमित होने के लिये है, सबके लिये क्यों नहीं है?

"गर नहीं सबका तो मैं यह पूछता हूँ आपसे
यह जमीं किसके लिए है आसमां किसके लिये।"[20]

वर्तमान समय में इन विमर्शों के अलावा बाल–विमर्श पर भी खूब रचनाएँ लिखी जा रहीं हैं। बालमन बहुत नाजुक और संवेदनशील होता है। भले ही बच्चे अपनी समस्याओं और दर्द को बयाँ नहीं कर सकते लेकिन एक संवेदनशील रचनाकार तो उनके साथ हो रहे शोषण और उत्पीड़न को व्यक्त करेगा ही वह उसकी नैतिक जिम्मेदारी है। आज हमारे समाज में बच्चे भी असुरक्षित हैं बच्चों के साथ अनेक तरह की यातनाएं होती हैं कहीं उन्हें बाल–श्रम में झोंक दिया जाता है, कहीं उन्हें मूलभूत अधिकार भोजन और शिक्षा से भी वंचित रहना पड़ रहा है। आजकल तो बालकों के साथ यौन शोषण की घटनाएं भी बढ़ी हैं संचार क्रांति ने जहाँ लोगों के लिये अनेक तरह की सुविधाएँ उपलब्ध कराई हैं वहीं कई प्रकार के अपराधों का भी जन्म हुआ है जिसकी चपेट में बच्चे भी आ जाते हैं। हमारे देश में गरीबी के कारण न जाने कितने बच्चे भूखे–नंगे फुटपाथों पर जीवन जीते भीख मांगते नजर आते हैं।

खाद्य एवं कृषि रिपोर्ट 2018 के अनुसार– देश में पाँच साल से कम उम्र के हर दिन लगभग 4500 बच्चे भूख और कुपोषण के कारण मर जाते हैं, जबकि अकेले भूख के कारण हर साल तीन लाख से अधिक बच्चों की मौतें होती हैं। क्या ऐसे आंकड़ों से रूह नहीं काँप जाती? ऐसे देश का विकास क्या होगा जब वहाँ के बच्चे जो आगे चलकर देश का भविष्य निर्माण करेंगे भुखमरी और जहालत भरी जिंदगी जीने को मजबूर हैं। हिंदी गजलों में भी यह चिंता मुखरता से अभिव्यक्त होती है–

"भूखे बच्चे हैं हैरान अपनी जगह,
दूध पीते हैं भगवान अपनी जगह।
हक से वंचित हैं इंसान अपनी जगह,
खूबसूरत है संविधान अपनी जगह।"[21]

इसी तरह बचपन में जिम्मेदारियों का पहाड़ ढोते नन्हे हाथ धीरे–धीरे अपना बचपना खो देते हैं और एक कमी सी उन्हें जीवन भर सालती रहती है। रामदरश मिश्र के इस शेर से और स्पष्ट देख सकते हैं–

"फूल से बचपन के सिर देखा बुढ़ापे का पहाड़
आँसुओं की आँच में गलती जवानी देख ली।"[22]

निष्कर्ष–

उपर्युक्त विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान समय में हिंदी गजल एक प्रगतिशील साहित्य की भाँति अपने समय और समाज से रूबरू हो

रही है। जैसा कि हम सभी जानते हैं कि बाढ़ के गुजर जाने के बाद, नदी का पानी शांत होकर बहने लगता है। अनेक प्रयोगों एवं तमाम तरह के वैचारिक संघर्षों से गुजरने के बाद, आज की हिंदी गजल समकालीन चेतना से युक्त एक ऐसे काव्यात्मक शैली के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत है जिसमें जीवन के अन्य विषयों के साथ वर्तमान सामयिक संदर्भ पूरी तरह मुखर हो रहे हैं। हिंदी गजल के प्रमुख सामयिक संदर्भों में देश की राजनीति सबसे ऊपर है लेकिन उसके साथ–साथ अन्य महत्वपूर्ण सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा अस्मितामूलक विमर्शों जैसे ज्वलंत विषयों पर भी बड़ी संजीदगी से लिखा जा रहा है। समकालीन हिंदी गजल नई चेतना, नई भावभूमि, नई संवेदना, तथा नये शिल्प के बदलाव की सूचक काव्य धारा है। इसका केंद्रबिंदु आम–आदमी या वो व्यक्ति है जिसकी पीड़ा सुनने वाला कोई नहीं है। आज गजल में केवल प्रेम और इश्क ही नहीं अपितु समाज में घटित हर घटना, समाज में हो रहे प्रत्येक परिवर्तन तथा आंदोलन का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता है फिर चाहे बात वंचित समाज की हो या अस्मितामूलक विमर्शों की आज गजलों में स्त्री, दलित, आदिवासियों, किन्नरों, बाल, वृद्ध, सभी के संघर्षों को और परेशानियों के प्रति न सिर्फ चिंता जाहिर की जा रही है बल्कि उनके अधिकारों के लिये आवाज भी उठाई जा रही है।

संदर्भ–सूची :

1. विनय वाइकर, गजल दर्पण, श्री मंगेश प्रकाशन, 2010, पृष्ठ संख्या 08
2. हिंदी कविता के प्रमुख विमर्श, वशिष्ठ अनूप, प्रलेक प्रकाशन, 2023, पृष्ठ संख्या 05
3. हिंदी साहित्य का इतिहास सम्पादक वशिष्ठ अनूप, पृष्ठ संख्या 246
4. दुष्यंत कुमार, साये में धूप, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, बहत्तरवां संस्करण, 2021, पृष्ठ संख्या 54
5. दुष्यंत कुमार, साये में धूप, राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, बहत्तरवां संस्करण, 2021, पृष्ठ संख्या 29
6. वशिष्ठ अनूप– 'समकालीन हिन्दी गजल में स्त्री विमर्श' देशबंधु (ई–पेपर), 15–07–2012, http://www-deshbandhu-co-in/vichar/
7. रोहिताश्व अस्थाना, बाँसुरी बिस्मित है, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2015, पृष्ठ संख्या 23
8. समकालीन हिंदी गजलकार– एक अध्ययन, हरे राम नेमा समीप, भावना प्रकाशन, दिल्ली 2017, पृष्ठ संख्या 444
9. हिंदी कविता के प्रमुख विमर्श, वशिष्ठ अनूप, प्रलेक प्रकाशन, 2023, पृष्ठ संख्या 103
10. आइना दर आइना, डी. एम. मिश्र, नमन प्रकाशन अंसारी रोड दरियागंज नई दिल्ली, 2016 पृष्ठ संख्या 91
11. रामदरश मिश्र, हँसी ओठ पर आंखें नम हैं, दिल्ली परमेश्वरी प्रकाशन,

1997, पृष्ठ संख्या 43
12. डॉ वशिष्ठ अनूप, हिंदी गजल का स्वरूप और महत्वपूर्ण हस्ताक्षर, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2006, पृष्ठ संख्या 61
13. बल्ली सिंह चीमा, जमीन से उठती आवाज, सेतु प्रकाशन, 1905, पृष्ठ संख्या 26
14. किशन तिवारी, धूप का रास्ता, पहले पहल प्रकाशन, भोपाल 2019
15. अदम गोंडवी, समय से मुठभेड़, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2020, पृष्ठ संख्या 27
16. डॉ वशिष्ठ अनूप, हिंदी गजल का स्वरूप और महत्वपूर्ण हस्ताक्षर, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2006, पृष्ठ संख्या 88
17. डी. एम. मिश्र, आइना दर आइना, पृष्ठ संख्या 19
18. हिंदी कविता के प्रमुख विमर्श, वशिष्ठ अनूप, प्रलेक प्रकाशन, 2023, पृष्ठ संख्या 98
19. बल्ली सिंह चीमा, उजालों को खबर कर दो, सेतु प्रकाशन, दिल्ली, 2019, पृष्ठ संख्या 47
20. माधव कौशिक की काव्य संवेदना, प्रो. मंजुला राणा, विजया बुक्स प्रकाशन नई दिल्ली, 2020, पृष्ठ संख्या 21
20. बल्ली सिंह चीमा, तय करो किस ओर हो, जन संस्कृति मंच, द्वारा– इंतखाब, मल्लीताल, नैनीताल, पृष्ठ संख्या 19
21. दीक्षित दनकौरी, गजल दुष्यंत के बाद, वाणी प्रकाशन 2003, पृष्ठ संख्या 39
22. कमलेश भट्ट कमल, शंख सीपी रेत पानी, आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट दिल्ली, पृष्ठ संख्या 06

■

नवगीत और शांति सुमन

सुशांत कुमार *

शांति सुमन हिंदी नवगीत लेखन परंपरा में प्रमुख स्थान रखती हैं। हिंदी नवगीत में उनका वही स्थान है जो छायावाद में महादेवी वर्मा का है। हिंदी नवगीत और जनगीत दोनों को शांति ने सुमन अपने अंदाज में रचा है। उनके गीतों की अंतर्वस्तु के निर्माण में उनके युगीन परिवेश तथा परिस्थितियों का विशेष महत्त्व रहा है।वे संवेदना के स्तर हाशिए पर खड़े लोगों के साथ खड़ी दिखती हैं और दूसरी तरफ उनके गीतों में सौंदर्य का ऐसा प्रवाह है कि पाठक सहज ही उसमें बहे चले जाते हैं। इनकी ग्राम्य चेतना और प्रकृति चित्रण से संबंधित गीतों से गुजरते हुए बरबस पाठकों को इनके सौंदर्यबोध की अनुभूति होते रहती है।

इन्होंने अपने गीतों में प्रकृति की रम्यता, मनुष्य की सुकुमारता के साथ–साथ उसकी क्रूरता का भी प्रभावी चित्रण प्रस्तुत किया है।जिन्होंने शांति सुमन का जमाना देखा है, वे कहते हैं कि उनकी कोकिल कंठ से जब गीत फूटते थे तो श्रोतागण के दिलो–दिमाग पर एक जादुई सम्मोहन छा जाता था। अपनी मोहक गायन शैली से शांति सुमन ने नवगीत को जन–जन के हृदय तक पहुंचाया।वे हिंदी नवगीत की सबसे मधुर आवाज हैं।उनके स्वर में जितनी मिठास है,उतनी ही तल्खी भी। जब वो किसान, मजदूर और स्त्री के संघर्ष को अपने गीतों में आवाज देती हैं,तो उनके गीतों का लहजा बड़ा तल्ख हो जाता है।शांति सुमन के गीतों में आग और राग दोनों है।

वे समाज में शोषण और प्रताड़ना झेल रहे लोगों के पक्ष में लिखने वाली गीतकार हैं। उन्होंने अपने बचपन के दिनों में गांव को देखा है। इसीलिए उनके गीतों में ग्रामीण संस्कृति के तत्त्व बराबर आते रहते हैं। उनकी स्मृतियों में उनका गांव हमेशा मौजूद रहा है। और हो भी क्यों न, रचनाकारों की स्मृतियां बड़ी सजीव और कोमल होती हैं। प्रकृति के सुकुमार कवि पंत अपने बालपन की प्रिय मित्र के बारे में कहते हैं "वो बालिका मेरी मनोरम मित्र थी" एक जमाने गुजर जाने के बाद भी कवि के हृदय में उस बालिका की पवित्र स्मृति बिलकुल ताजी है। शांति सुमन भी लंबे समय से शहर में निवास कर रही हैं लेकिन वहाँ जाकर भी उनके

* संपर्क– शोधार्थी, हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना, चलभाष– 8873975622
ईमेल–shant-8873@gmail.com

हृदय में अपने गांव का मोह बराबर बना रहा। उनके इसी भावदशा को अभिव्यक्ति देता उनका ये गीत देखिए –" मेघ–तरु फूले साथ थे, कुछ दूर चलकर रास्ता भूले कब कहां, ये छूट जायें, धान की बाली फूट जायें, आंख से देखें, उठाकर हाथ से छू ले"[1] कोई रचनाकार कृषक जीवन को ढंग से समझे बगैर यह ख्वाब कैसे देख पाएगा कि काश वर्षा होने से खेतों में लगे धान के पौधों के कचनार बालों में दाने उभर आते। शांति सुमन ने अपनी आंखों में धान के दाने के भार से हवा में झुमते हुए हरे भरे धान की बालियों के सौंदर्य को में बसा लेना चाहती हैं। उनका मन उन धान के झुमते हुए बालियों को छू लेने के लिए लालायित हो उठता है। दरअसल यहाँ शांति सुमन ने इस गीत में प्रकृति को उद्दीपन नहीं मुख्य आलंबन की भूमिका प्रदान किया है। किसानों के खेतों में जब अच्छी फसलें होती हैं तो वे ऐसे ही सात्विक आनन्द का अनुभव करते हैं। अपने खेतों और फसलों से उनका संबंध बिलकुल सजीव होता है। यहाँ शांति सुमन के इस गीत से साबित हो रहा है कि उन्होंने किसानों के जीवन को बड़े करीब से देखा है। इसीलिए वे अपने पाठकों को यह बताने में पूरी तरह कामयाब रही हैं कि किसान अपनी खेतों से, अपनी फसलों से कितना प्रेम करता है। जिस प्रकार 'गोदान' के होरी को एक गाय रखने की साध है, उसी तरह शांति सुमन कृषकों को हंसते मुस्कुराते देखने की साध रखती हैं।

जब शांति सुमन जी अपनी गीतों में कहती हैं– "गूंगे चौराहे, नगर गांव बहरे हुए कहाँ रुकूं, रोपूँ पाँव ठहरे हुए" अखबारों, सड़को पर भूख और अकाल, बाढ़ पीड़ितों के दुख, सुनते कंगाल, अंधेरे के बुरादे देश के कुहले हुए।"[2] इस पूरे संदर्भ की जानकारी नहीं होने पर भी एक बात तो पक्के तौर पर कही ही जा सकती है कि शांति सुमन अपने समकालीन वर्तमान से बहुत गहरे स्तर पर जुड़ी रही हैं। उन्होंने यहाँ रोटी और भूख से तड़पते हुए लोगों की मार्मिक तस्वीर खींची है। कोई अकाल से मारा जा रहा है तो कोई नदी में आई बाढ में अपना सर्वस्व गंवा चुका है। इस प्रसंग को अच्छे से समझने के लिए हमें यह ध्यान रखना होगा कि बाढ़, बदहाली और अकाल की भयावहता को सबसे अधिक कोसी क्षेत्र के लोगों ने झेला है।

शांति सुमन उसी कोसी क्षेत्र की बेटी हैं। इनका बचपन उसी क्षेत्र में बीता है। फिर कैसे इतनी कोमल हृदया लेखिका अपने प्रियजनों के उजड़ते उखड़ते हुए जीवन की वेदना से अनभिज्ञ रह सकती थीं?। मुझे यह कहने में कोई अतिशयोक्ति प्रतीत नहीं हो रहा है कि शांति सुमन अपनी गीतों से वहीं कार्य करती दिख रही हैं,जो कार्य रेणु ने पूर्णियां अंचल के लिए अपने उपन्यासों और कहानियों से किया। ये पूर्णिया क्षेत्र के लोगों के लिए बड़े फक्र की बात है कि उस क्षेत्र में 'शांति सुमन' जैसी एक ऐसी लेखिका ने जन्म लिया, जिसने वहाँ के जीवन की चुनौतियों को अखिल भारतीय स्तर पर एक मजबूत आवाज दी। उनके गीतों में, गाँवों की प्राकृतिक आबो–हवा की खुशबू मंथर गति से हमेशा बहते रहती है।

शांति सुमन के गीतों पर उनके रचनाकाल में उभर रहे जनवादी मूल्यों का प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव के कारण उनके गीतों में शोषणकारी शक्तियों के प्रति मौजूद विद्रोह की भावना और अधिक धारदार हो गई। जब वे अपने गीतों में सामंती या शोषणकारी मानसिकता का विरोध करती हैं,तो उनके गीतों का स्वर केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन जैसे आक्रामक शोषण विरोधी कवियों से मेल खाता हुआ प्रतीत होता है। शांति सुमन के गीतों के तल्ख तेवर की मिशाल के रूप में इन पंक्तियों को देखिए– "बोकर उमर खेत में क्यों जुल्म सहें, रोटी देनेवाले क्यों खुद को कमजोर कहें, ऐसा कहनेवाला होगा कोई नया दलाल बहिना रोटी हुई सवाल

खूनी जबड़े तोड़ेंगे हम उन कानूनों के नया समाज गढ़ेंगे हम समता के मजमूनों से हर मुश्किल पर दम उठेगी अपनी लाल मशाल भया, रोटी हुई सवाल बहिना रोटी हुई सवाल"[3]

शांति सुमन के गीतों की प्रकृति एकरेखीय नहीं है। कहीं इनके गीतों में मानवीय जीवन की सुंदरतम अभिव्यक्ति हुई है तो वहीं दूसरी ओर गरीब–मजलूमों को शोषित करने वाली शक्तियों के खिलाफ बेतहाशा प्रतिरोध प्रकट हुआ है। यह प्रतिरोध अपने उफान पर पहुंचकर शोषक शक्तियों की सत्ता के विध्वंस के लिए हिंसा को भी गलत नहीं मानता। शांति सुमन के गीत किसान मजदूरों के लिए क्रांति की मशाल की तरह हैं। इनके गीतों में वंचितों से संगठित प्रतिरोध का आह्वान है ताकि वो सभी मिलकर सामंतवाद और पूंजीवाद के दमनकारी गढ़ को उखाड़ सकें। शांति सुमन जनता के प्रतिरोध के जज्बे हतोत्साहित करने वाले लोगों को दलाल तक कह देती हैं।

यहाँ मैं एक बात और विशेष रूप से कहना चाहूँगा कि शांति सुमन के गीतों में निहित प्रतिरोध को कोई सस्ती मार्क्सवादी नुस्खा समझने की भूल न करे। बगैर जनवादी सरोकारों में गहन आस्था उपजे लेखक जनता के हितों की रक्षा के लिए इतनी मजबूती से खड़ा नहीं हो सकता। शांति सुमन के एक गीत में गरीब माँ अपने बेटे को मानो दुलारते हुए कहती है–" फटी हुई गंजी ना पहनें खाये बासी भात नाबेटा मेरा रोये, माँगे एक पूरा चन्द्रमा"[4]

यहाँ शांति सुमन गरीब मां की गोद में पलते हुए बच्चे के बारे में ऊपर जो कहा, वह कितना मार्मिक है? कितना मानवीय है? पाषाण हृदय वाले लोग भी इन पंक्तियों को पढ़कर कुछ क्षण के लिए मानवता के धरातल पर उतरने को मजबूर हो जाएंगे। उस गरीब माँ का यह कहना कि उसका बेटा एक पूरा चन्द्रमा माँगता है, यह कोई सामान्य बात नहीं है। एक गरीब और अभाव ग्रस्त माँ का बेटा चन्द्रमा पाने की ख्वाहिश रखे, मेरी समझ से ये हिंदी गीत लेखन परंपरा का एक दुर्लभ प्रसंग है। यहाँ शांति सुमन भाग्यवाद, अभिजात्यवाद तथा सामंतवाद के उन संकीर्ण धारणाओं को बड़ी बेबाकी से खंडित कर रही हैं, जिसे गरीबों के शोषण को बरकरार रखने के लिए शोषक शक्तियों ने गढ़ा है। उन्होंने शोषकों

को यह दिखाया है कि गरीबों में असंतोष की भावना प्रबल होते जा रही है। इस समाज ने अगर उन्हें यथोचित अधिकार तथा मान सम्मान नहीं दिया तो हमारी एकता कमजोर होगी। अतः हम यह कह सकते हैं कि शांति सुमन को वक्त के नब्ज की गहरी पकड़ है। इसीलिए उनके लेखन में बदलते हुए समाज की आहट भी सुनी जा सकती हैं। अब यहाँ देखिए की शांति सुमन सत्ताधीशों से किस लहजे में बात करती हैं– "नया समाज गढ़ा जाएगा मिट्टी श्रम पानी से मुक्त करेंगे जन–जन को सत्ता की मनमानी से "[5]

यहाँ सत्ता और सत्ता की पूंजीवादी मानसिकता पर गहरी चोट की गई है। यहाँ जिस नये समाज की बात हो रही है उसकी नींव मिट्टी और पानी से रखी जाएगी। मिट्टी और पानी का किसानी संस्कृति में विशिष्ट महत्त्व है। मिट्टी और पानी की बुनियाद पर विकसित समाज में ही मनुष्यता की रक्षा हो सकेगी। अन्यथा पूंजीवाद तमाम मानवीय संबंधों को तंगो–तबाह करके मनुष्य की कोमल वृत्तियों का सर्वनाश कर देगा। लेखिका का कल्पित समाज, किसानों, मजदूरों और वंचितों की उत्थान भावना से प्रेरित है। सत्ता ने इन्हीं लोगों के साथ सबसे अधिक मनमानी की है। सत्ता ने पूंजीवादी हितों की रक्षा के लिए किसानों, मजदूरों को मोहरा बनाया है। मजदूर कारखानों में बेतहाशा श्रम करके भी जहालत की जिंदगी जिने के लिए अभिशप्त हैं तो दूसरी ओर किसान स्वयं अन्न उपजा कर दो रोटी खाने के लिए तरस रहे हैं। शांति सुमन के गीत ऐसे शोषक शक्तियों के घृणित और षड्यंत्रकारी चेहरे को समाज के समक्ष बेनकाब करता है। वे सत्ता की अधिनायकवादी चरित्र को भली–भांति पहचानती थी। उन्हें यह मालूम है कि इन दकियानूसी मानसिकता वाले लोगों पर प्रार्थना और प्रेम की भाषा का कोई असर नहीं होने वाला है। इसीलिए वो सत्ता में बैठे कठमुल्लाओं को ललकारती हुई कहती हैं, जिनको तुमने अपनी शक्ति और सख्ती से दबा रखा है, वे अब तुम्हारी गुलामी नहीं खटेंगे। वो संघर्ष का रास्ते पर चलकर तुम्हें माकूल जवाब देंगे। शांति सुमन नवगीत परंपरा की एक जागरूक लेखिका हैं।

शांति सुमन के गीतों में आधुनिक दौर में बदलते हुए मानवीय रिश्तों की आहट है। उन्हें इस बात का भान है कि उनका समकालीन समाज आत्मकेंद्रित होता जा रहा है। मनुष्य के आपसी रिश्ते ठंडे पड़ते जा रहे हैं। हमारे समाज में एक अजीब तरह का नैराश्य छाता जाता जा रहा है। उनकी इन पंक्तियों में सामाज के प्रति उनकी चिंता समझी जा सकती है– "लोग आपस में मिलना–जुलना भूल गये और विदा के समय अलविदा न कह सके"[6] इस प्रकार हम देखते हैं कि शांति सुमन अपने वर्तमान समय पर पैनी निगाह रखती हैं और उस वर्तमान की ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों को उजागर करके मनुष्य जाति को विघटन से बचाना चाहती हैं। उनकी उपर्युक्त पंक्तियां मानो हम सभी से ये आह्वान करती हैं कि अपने भीतर की मनुष्यता और प्रेम को मरने मत दो। वो मनुष्य मनुष्य के बीच कमजोर होते प्रेम और सौहार्द के रिश्ते को बचाना चाहती हैं। उनकी काव्य पंक्तियों में इस

बात की स्पष्ट चिंता दिखाई देती है।

शांति सुमन के गीतों में उनका आंचलिक बोध बड़ी जीवंतता से आया है। उनके गीतों में उनका कोसी क्षेत्र अपने पूर्ण वैभव और विडंबनाओं के साथ उपस्थित हुआ है। मेरी समझ से यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होनी चाहिए कि शांति सुमन के गीतों में कोसी के खेत खलिहानों की यात्रा है तो दूसरी ओर कोशी के बाढ़ का निर्मम तांडव भी है।

यहाँ देखिए, उन्होंने एक गीत में किस प्रकार भाव–विह्वल होकर अपने गांव को याद किया है– "दरवाजे का आम–आँवलाध्घर का तुलसी चौराध्इसलिए माँ ने अपनाध्गाँव नहीं छोड़ा"[7] इस छोटे से प्रसंग में गाँव की आत्मा छिपी है। जिन्होंने गांव को देखा है, जिसे उसका पवित्र सानिध्य मिला है, वो ही इस गीत के मर्म को समझ सकता है। इसी गीत में आगे शांति सुमन कहती हैं कि एक माँ ने गहने खरीदने की उम्र में,गांव में खेत खरीदी। साथ ही उन्होंने यहाँ यह दिखाया है कि प्रकृति के साहचर्य की अनुभूति के बगैर गांव की पहचान मुकम्मल नहीं हो पाएगी। इसलिए वो इस गीत में सर्वप्रथम अपने घर के दरवाजे पर खड़े आम और आंवले को याद करती हैं।

शांति सुमन ने गीत को परंपरागत काव्यशास्त्रीय परिपाटी से मुक्त किया। हमारे यहाँ संस्कृत आचार्यों ने गीत को एक भावुक हृदय की अभिव्यक्ति माना था। उनके अनुसार गीत में लय–भाव और माधुर्य का विशेष महत्त्व था। जब नवगीत में जनवादी प्रवृत्तियां उभरने लगी, तब गीत के परंपरागत शिल्प उन जनवादी प्रवृत्तियों को अभिव्यक्ति प्रदान करने में असमर्थ होने लगा। यह होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि जनवादी गीतों की अंतर्वस्तु में वैचारिकी का भी खासा महत्त्व था। अतः वैचारिकी को गीत में स्थान देने के लिए शांति सुमन ने गीत परंपरागत स्वरूप में बदलाव किया। यह बदलाव यह बताता है कि शांति सुमन 'नवगीत' में आधुनिक चेतना की वाहिका हैं।यश मालवीय उनकी इसी प्रवृत्ति को लक्षित करते हुए कहते हैं कि " वह नवगीत को एक नयी भाषिक संरचना दे रही थीं। वह गीत को केवल गाए जाने की जकड़बंदी से बाहर ला रही थीं।"[8] अब गीत पर महादेवी वर्मा की एक टिप्पणी देखिए, जहाँ उन्होंने ईमानदारी से अपने गीत की सीमाओं स्वीकार किया है। इस संदर्भ उनका कथन इस प्रकार है– "परिवर्तन आना है, आयायभाषा में भी आया, छंद में भी आया, लेकिन संस्कार पुराना ही रहा होगा क्योंकि फिर गीत लिखने का लोभ तो था ही और गीत में छंद न हो, गुनगुनाया न जाए, गाया न जाए तो किसी काम का नहीं होगा।"[9] महादेवी वर्मा निश्चित रूप एक महान गीतकार हैं। उनके गीत भाव और लय के स्तर पर शांति सुमन के गीतों से अधिक प्रभावी हैं। हम यह कह सकते हैं कि महादेवी में भावुकता अधिक है और शांति सुमन में बौद्धिकता। यहाँ बौद्धिकता शब्द का अर्थ ग्रहण करते समय सावधान रहने की जरूरत है। यह बौद्धिकता शुष्क बौद्धिकता नहीं वरन् रस में भीगी हुई बौद्धिकता है। शांति सुमन के गीतों

में महादेवी वर्मा की तुलना में आधुनिकता के तत्व अधिक हैं। उन्होंने बहुत साफ साफ तौर पर गरीब किसानों तथा मजदूरों की पीड़ा को अभिव्यक्ति दी है जबकि महादेवी जी की गीतों में ये मूल्य इतनी मुखरता से प्रकट नहीं हुए हैं। हम यह कह सकते हैं कि महादेवी वर्मा और शांति सुमन का पार्थक्य कुछ–कुछ छायावाद और नई कविता के जैसा है।

शांति सुमन के गीतों में वैविध्य है। उनके गीतों के मूल्यांकन में कोई खास वाद या विचारधारा का आग्रह काम नहीं आने वाला। उन्होंने नवगीत और जनगीत दोनों को अपने रचनाकर्म से साधा है। उन्होंने अपने गीतों में कथ्य और शिल्प के स्तर पर भी कुछ नवीन प्रयोग किए हैं। उनके गीतों का महत्त्व ऐसा है कि जब–जब नवगीत और जनगीत के विकास पर चर्चा होगी तो उसमें शांति सुमन का नाम अवश्य आएगा। शांति सुमन ने अपने गीतों के माध्यम से हिंदी गीत परंपरा को आत्मबद्धता के तंग दायरे से निकालकर उसमें सामाजिक संघर्ष का स्वर भर दिया।

संदर्भ–सूची :

1. शांति सुमन,परछाई टूटती, ईशान प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, पृ०–44
2. वही–18
3. शांति सुमन, पंख–पंख आसमान, अभिधा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, प्रथम संस्करण–2004,पृ०–86
4. वही–92
5. शांति सुमन, मौसम हुआ कबीर, ईशान प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, प्रथम संस्करण–1985, पृ०–55
6. शांति सुमन, लाल टहनी पर अड़हुल, समीक्षा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, प्रथम संस्करण–2016, पृ०–71
7. शांति सुमन, भीतर–भीतर आग, समीक्षा प्रकाशन, प्रथम संस्करण– 2002, पृ०–89
8. शांति सुमन, सानिध्या, समीक्षा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, प्रथम संस्करण–2021, पृ०–20
9. अज्ञेय से बातचीत, संपादक– कृष्णदत्त पालीवाल, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण–2011,पृ०–139
10. शांति सुमन, परछाई टूटती, ईशान प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, द्वितीय संस्करण–2010, पृ०–68

■

साहित्य चिंतन

नागार्जुन के काव्य में समसामयिक समस्याएँ

बबिता कुमारी *

नागार्जुन हिंदी प्रगतिशील साहित्य के उन कवियों में से हैं, जिनकी रचनाएँ समाज और समय के साथ गहरे रूप में जुड़ी हुई हैं। उनकी कविताएँ केवल साहित्यिक सौंदर्य की उपासना नहीं करतीं, बल्कि समाज की समस्याओं और असमानताओं को भी उजागर करती हैं। नागार्जुन की लेखनी में उस समय के भारत की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों की सच्ची झलक मिलती है। उनके काव्य में समसामयिक समस्याओं का वर्णन इतनी सहजता और प्रभावशाली ढंग से किया गया है कि पाठक उनके दर्द और आक्रोश को महसूस कर सकता है।

नागार्जुन के काव्य में सामाजिक विषमता का मुद्दा प्रमुखता से उठाया गया है। भारतीय समाज में व्याप्त जातिवाद, गरीबी और सामाजिक असमानता उनकी कविताओं में बार–बार दिखाई देती है। उन्होंने भोजपुर कविता में ग्रामीण भारत की दरिद्रता और किसानों की पीड़ा को बेहद मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। किसानों और मजदूरों की हालत पर उनका ध्यान हमेशा केंद्रित रहता था। उनकी रचनाएँ उस समय के गरीब और शोषित वर्ग की आवाज बनकर उभरीं–

'यही तुम्हारी वाणी का कल्याण करेगी/यही मृत्तिका जन–कवि में अब प्राण भरेगी/चमत्कार है इस माटी में.../आओ, आओ, आओ, आओ!/तुम भी आओ, तुम भी आओ/देखो, जनकवि, भाग न जाओ/तुम्हें कसम है इस माटी की/इस माटी की, इस माटी की इस माटी की।'[1]

'रवि ठाकुर' कविता में कवि बताते हैं कि उनका जन्म किसान परिवार में हुआ था जहाँ गरीबी और अभाव जीवन का हिस्सा है। वे खुद को 'दीन–हीन' कहने के बजाय किसान जीवन की सच्चाई को स्वीकार करते हैं। 'आ रहा हूँ पीता अभाव का आसव ठेठ बचपन से' से स्पष्ट है कि कवि का बचपन अभावों में बीता। यहाँ 'अभाव का आसव' (गरीबी का रस) पीने का जिक्र है, जो प्रतीकात्मक रूप से यह दर्शाता है कि उन्होंने बचपन से ही गरीबी और कठिनाइयों का सामना

* संपर्क – शोधार्थी, हिंदी विभाग, बिनोद बिहारी महतो कोयलांचल विश्वविद्यालय, धनबाद (झारखंड) Email-babitajeet5929@gmail.com

किया है–

पैदा हुआ था मैं
दीन हीन अपठित किसी कृषक–कुल में
आ रहा हूँ पीता अभाव का आसव ठेठ बचपन से
कवि! मैं रूपक हूँ दबी हुई दूब का
हरा हुआ नहीं कि चरने को दौड़ते!
जीवन गुजरता प्रतिपल संघर्ष।[2]

नागार्जुन की ये पंक्तियाँ गरीबी, संघर्ष और जीवंतता की कथा कहती हैं। वे अपने लेखन के माध्यम से शोषित वर्ग की आवाज बनते हैं। यह कविता हमें उन लोगों के जीवन की झलक देती है, जो कठिनाइयों के बावजूद जीने की उम्मीद और हिम्मत नहीं छोड़ते। नागार्जुन का यह लेखन हिंदी साहित्य की अमूल्य धरोहर है, जो समाज को सोचने और बदलने के लिए प्रेरित करता है।

'जया' कविता में कवि का मानना है कि मध्य वर्ग के संघर्ष का निचला स्तर, उसकी सीमाएँ और उसकी विवशताएँ अक्सर हमारे समाज की आँखों से ओझल रह जाती हैं। यह वर्ग न तो इतना साधन संपन्न है कि अपने सपनों को खुले आसमान में उड़ान दे सके और न ही इतना असहाय है कि समाज की नजर में दया का पात्र बने। यह वर्ग विशेष रूप से एक साधारण स्कूली मास्टर, अपने जीवन की हर साँस में संघर्ष करता है। इस स्थिति की भयावहता तब और अधिक स्पष्ट हो जाती है, जब वह मास्टर अपनी गूंगी–बहरी बच्ची की शिक्षा का इंतजाम करने की कोशिश करता है। क्या कर सकता वह बाप भला, बहरी गूंगी उस बच्ची की शिक्षा–दीक्षा का इंतजाम? यह पंक्ति एक गहरी पीड़ा और असमर्थता को व्यक्त करती है–

कैसा असह्य, कितना जर्जर,
यह मध्यवर्ग का निचलास्तर!
स्कूली जीवन के साधारण मास्टर का हो किसमें लेखा
मैनें झाँका तो यह देखा
बाहर सफेद, अंदर धुंधला
क्या कर सकता वह बाप भला
बहरी गूंगी उस बच्ची की शिक्षा–दीक्षा का इन्तजाम[3]

उपरोक्त पंक्तियाँ इसी संघर्ष को उजागर करती हैं। इस कथन में मध्य वर्ग के उस तबके की तस्वीर उभरती है जो जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं को भी पूरा करने के लिए जूझता है। एक साधारण स्कूल मास्टर, जो समाज के भविष्य–बच्चों को शिक्षित करने का महत्वपूर्ण कार्य करता है, स्वयं अपने परिवार के लिए शिक्षा और जीवन की बुनियादी सुविधाएँ जुटाने में विफल रहता है।

नागार्जुन 'रामराज' कविता में रामराज्य का सपना भारतीय समाज के लिए

आदर्श शासन और न्यायपूर्ण समाज का प्रतीक मानते हैं। लेकिन जब यह सपना टूटता है, तो उसकी गूंज ऐसी पंक्तियों में सुनाई देती है, जो हमारी सामाजिक और राजनीतिक विफलताओं को उजागर करती है–

रामराज में अबकी रावण नंगा होकर नाचा है
सूरत–शक्ल वही है भइया, बदला केवल ढाँचा है।
नेताओं की नीयत बदली, फिर तो अपने ही हाथों
भारत माता के गालों पर कसकर पड़ा तमाचा है।[4]

रामराज में अबकी रावण नंगा होकर नाचा है'–यह पंक्ति उस सच्चाई की ओर इशारा करती है, जहाँ रावण का स्वरूप बदल गया है। आज रावण न केवल समाज के हर हिस्से में मौजूद है, बल्कि वह खुलेआम अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करता है। वह छल, भ्रष्टाचार और अनैतिकता का नया प्रतीक बन गया है। उसकी सूरत–शक्ल तो वही है, पर आज का ढाँचा ऐसा है कि उसकी बुराइयाँ न केवल स्वीकार्य हो गई हैं, बल्कि कभी–कभी उनकी प्रशंसा भी की जाती है।

'सच न बोलना' कविता की पंक्तियाँ उस विडंबना और त्रासदी को प्रकट करती हैं जो हमारे समाज और नेतृत्व की सच्चाई बन चुकी है। इन शब्दों में छुपा दर्द और कटाक्ष हमें सोचने पर मजबूर करता है कि कैसे स्वार्थ, पाखंड और नैतिक पतन ने हमारी व्यवस्था को जकड़ लिया है। यहाँ इन वर्गों का उल्लेख केवल आर्थिक या सामाजिक पहचान के लिए नहीं किया गया है, बल्कि यह संकेत है कि समाज के ये प्रभावशाली लोग, जिनसे न्याय और संतुलन की अपेक्षा थी, अब स्वार्थ और अनैतिकता के प्रतीक बन गए हैं। 'अन्दर–अन्दर विकट कसाई, बाहर खद्दरधारी'–इस पंक्ति में उस पाखंड का जिक्र है, जो समाज में गहराई तक फैल चुका है। खद्दरधारी यानी बाहर से साधु–संत या ईमानदार व्यक्ति की छवि दिखाने वाले लोग भीतर से क्रूर, स्वार्थी और अनैतिक हो गए हैं। यह पाखंड समाज को भीतर से खोखला कर रहा है–

जमींदार है, साहूकार है, बनिया है, व्यापारी है,
अन्दर–अन्दर विकट कसाई, बाहर खद्दरधारी है!
सब घुस आए, भरा पड़ा है, भारतमाता का मन्दिर
एक बार जो फिसले अगुआ, फिसल रहे हैं फिर–फिर–फिर।[5]

यह पंक्तियाँ समाज के उन चेहरों को परिभाषित करती हैं, जो बाहर से नैतिकता और सादगी का आडंबर रचते हैं, लेकिन भीतर से स्वार्थ और अनैतिकता के प्रतीक हैं। यह न केवल उनके पाखंड को उजागर करती हैं, बल्कि यह भी दिखाती हैं कि कैसे ऐसे लोग हमारी व्यवस्था और समाज को लगातार क्षति पहुँचा रहे हैं। इन शब्दों में भारत की उस त्रासदी का चित्रण है, जहाँ नेता और प्रभावशाली लोग अपने कर्तव्यों से विमुख होकर देश को भीतर से खोखला कर रहे हैं।

नागार्जुन ने स्वतंत्र भारत की राजनीति पर तीखा प्रहार किया। उनकी कविताएँ राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार, नेताओं के झूठे वादों और जनता के साथ किए जा रहे छल–कपट की कड़ी आलोचना करती हैं। 'अकाल और उसके बाद' कविता में उन्होंने तत्कालीन सरकार की विफलता को उजागर किया है। इस कविता में उन्होंने अकाल की भयावहता और सरकारी तंत्र की निष्क्रियता को दिखाया है। नागार्जुन की कविताएँ आम जनता के दुःख और पीड़ा की अभिव्यक्ति हैं, जो सत्ता से सवाल पूछने का साहस दिखाती हैं–

दाने आए घर के अंदर कई दिनों के बाद / धुआँ उठा आँगन से ऊपर कई दिनों के बाद / चमक उठी घर भर की आँखें कई दिनों के बाद / कौए ने खुजलाई पँखें कई दिनों के बाद।[6]

उनकी कविताओं में अकाल और गरीबी का चित्रण बार–बार होता है। 'अकाल और उसके बाद' कविता में उन्होंने किसानों और गरीबों की पीड़ा का वर्णन किया है। यह कविता अकाल के दौरान गरीब किसानों की भूख और बेबसी का सजीव चित्रण करती है। नागार्जुन का मानना था कि जब तक समाज में आर्थिक समानता नहीं होगी, तब तक किसी भी प्रकार का विकास अधूरा रहेगा।

कवि नागार्जुन 'विवशता' शीर्षक कविता में मानवीय भावनाओं और संघर्षों का एक सजीव चित्रण करते हैं। इसका अर्थ है कि व्यक्ति प्यास और भूख से तड़प रहा है, उसके भीतर दुःख और क्रोध का मिश्रण है, वह समाधान या सहारा पाने के लिए बेचैनी में इधर–उधर भटक रहा है, लेकिन उसे वह अपनापन नहीं मिल रहा, जिसकी उसे तलाश है। यह जीवन में उपेक्षा, अस्वीकार्यता और असमर्थता के गहरे अनुभव को व्यक्त करती है–

तृषित क्षुधित हो, रूदित क्रुधित हो,
इधर उधर वह आये जाये
तुम्हीं न उसको अपना पाये।[7]

मानव जीवन में हर व्यक्ति कभी न कभी ऐसे दौर से गुजरता है, जहाँ उसकी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं। "तृषित क्षुधित हो, रूदित क्रुधित हो, इधर उधर वह आये जाये, तुम्हीं न उसको अपना पाये" एक गहन अनुभव को व्यक्त करती पंक्ति है, जो मानवीय भावनाओं और आंतरिक द्वंद्व का दर्पण है।

नागार्जुन के काव्य में नारी शोषण का मुद्दा भी प्रमुखता से उठाया गया है। उन्होंने ग्रामीण महिलाओं की कठिनाइयों और उनकी सामाजिक स्थिति का वर्णन किया है। उनकी कविताएँ नारी को केवल सहानुभूति नहीं देतीं, बल्कि उनके संघर्ष और साहस को भी रेखांकित करती हैं। वहीं 'तालाब की मछलियाँ' कविता समाज में हो रहे व्यापक परिवर्तन और स्त्रियों की स्थिति में बदलाव का प्रतीक है। यह रचना एक क्रांतिकारी दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है, जहाँ परंपरागत

सामाजिक ढाँचे टूट रहे हैं और एक नई जागृति का उदय हो रहा है। इसका मुख्य उद्देश्य स्त्रियों की स्वतंत्रता, समानता, और उनकी पारंपरिक सीमाओं से मुक्ति का आह्वान करना है। कविता की शुरुआत में 'उथल–पुथल' शब्द जन– जीवन में हो रही गहन सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हलचलों की ओर संकेत करता है। 'उत्क्रांति' शब्द यह दर्शाता है कि यह बदलाव मात्र अस्थायी नहीं है, बल्कि यह समाज में एक नई चेतना और संरचना का आधार बनेगा–

उथल पुथल है जन जीवन में
सभी ओर उत्क्रांति हो रही है
टूट रहे हैं अंतःपुर के ढाँचे
आज या कि कल, तुम भी तो निकलोगी बाहर
हवेलियों से, डेवढ़ियों से
फिर जनपद के खंड नरक मिट जाएँगे
शब्दकोश को छोड़ कहीं भी, नहीं 'असूर्यम्पश्या' का अस्तित्व रहेगा
औरतदारी रह न जाएगी।[8]

यह कविता न केवल स्त्रियों की मुक्ति की बात करती है, बल्कि एक व्यापक सामाजिक क्रांति का आह्वान करती है। यह बदलाव केवल स्त्रियों तक सीमित नहीं है, बल्कि पूरे समाज की सोच, संरचना और मूल्यों में बदलाव लाने का संकेत है। यह रचना समाज को एक नई दिशा में ले जाने, समानता और स्वतंत्रता की स्थापना करने और पुराने रूढ़िवादी ढाँचों को समाप्त करने का संदेश देती है।

निष्कर्ष :

नागार्जुन की कविताएँ समसामयिक समस्याओं का सजीव दस्तावेज हैं। उनकी रचनाओं में समाज, राजनीति, आर्थिक विषमताओं और नैतिक पतन जैसे मुद्दों पर प्रखर दृष्टिकोण प्रकट होता है। नागार्जुन ने अपने काव्य के माध्यम से जनसाधारण की पीड़ा, उनकी आकांक्षाओं और संघर्षों को अभिव्यक्ति दी। उनके काव्य में व्यंग्य, आलोचना और सृजनात्मकता का अनूठा समावेश मिलता है, जो पाठकों को न केवल जागरूक करता है बल्कि सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रेरित भी करता है। इस प्रकार, नागार्जुन की काव्य रचनाएँ न केवल साहित्यिक दृष्टि से बल्कि सामाजिक चेतना के विकास के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। नागार्जुन के काव्य केवल साहित्य का हिस्सा नहीं हैं, बल्कि समाज के आईने के रूप में कार्य करते हैं। उनकी कविताएँ पाठकों को समाज की सच्चाई से अवगत कराती हैं और उन्हें सोचने पर मजबूर करती हैं। नागार्जुन ने अपने समय की समस्याओं को इतनी गहराई और ईमानदारी से प्रस्तुत किया है कि उनकी रचनाएँ आज भी प्रासंगिक हैं। उनके काव्य हमें यह सिखाते हैं कि साहित्य केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं है, बल्कि यह समाज के बदलाव का एक शक्तिशाली उपकरण भी है।

संदर्भ–सूची :

1. नागार्जुन, ऐसे भी हम क्या ! ऐसे भी तुम क्या, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1985 , पृ–20
2. नागार्जुन, युगधारा, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, 1953, पृ.–20
3. वही, पृ–110
4. शोभाकांत, नागार्जुन रचनावली, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003, पृ–132
5. वही, पृ–105
6. नागार्जुन, सतरंगे पंखो वाली, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2001, पृ–32
7. नागार्जुन, युगधारा, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, 1953, पृ–34
8. शोभाकांत, नागार्जुन रचनावली, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003, पृ–110

■

साहित्य चिंतन

अभिमन्यु अनत के उपन्यासों में

भारतीय संस्कृति

अभय कुमार पुरी*

मॉरीशस का प्रवासी हिन्दी साहित्य वर्तमान समय की मुख्यधारा के हिन्दी साहित्य का अभिन्न अंग बन चुका है। भारत के बाहर हिन्दी साहित्य लेखन की दुनिया में मॉरीशस के प्रसिद्ध भारतवंशी हिन्दी लेखक, साहित्यकार अभिमन्यु अनत का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। ये मॉरीशस के हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक सम्पूर्ण युग माने जाते हैं। मॉरीशस के हिन्दी साहित्य के इतिहास में उनका नाम अगर स्वर्ण अक्षरों में लिखा जाए तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। अभिमन्यु अनत हिन्दी को अंतरराष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करने तथा उसकी सर्जनात्मकता के विस्तार के प्रतीक माने जाते हैं। इन्होंने अपने द्वारा हिन्दी भाषा में रचित साहित्यिक कृतियों के माध्यम से भारत के साथ साहित्यिक–सांस्कृतिक संबंधों को मजबूत करने के लिए एक आधार प्रदान किया। इनकी बहुमुखी प्रतिभा के संबंध में डॉ कमल किशोर गोयनका का मत है कि, 'अभिमन्यु अनत की बहुमुखी प्रतिभा ने साहित्य और जीवन में एकरूपता, अस्मिता–भाषा–संस्कृति की रक्षा, नयी पीढ़ी की स्थापना, विश्व–मंच पर प्रतिष्ठा तथा भारत में इतनी लोकप्रियता दिलाई कि उन जैसा कोई भारतवंशी हिन्दी लेखक अभी तक सामने नहीं आया।'[1]

संस्कृति किसी भी समाज की गहराई तक व्याप्त गुणों के समग्र स्वरूप का नाम है, जो उस समाज के सोचने–विचारने तथा कार्य करने के स्वरूप में अंतर्निहित होता है। संस्कृति जीवन जीने की दृष्टि है। मानव मात्र के सम्पूर्ण कृत्यों को उसके सम्पूर्ण रूप में पहचान करने हेतु संस्कृति का अध्ययन किया जाता है। संस्कृति मानव जीवन की सम्पूर्ण रूप में अभिव्यक्ति है। रामधारी सिंह 'दिनकर' संस्कृति को जीवन का एक प्रारूप मानते हैं। मानव जीवन के प्रवाह के साथ–साथ संस्कृति भी प्रवहमान रहती है तथा मानवीय संवेदनाओं का संयोजन करते हुए सदा नूतन बनी रहती है। इनके अनुसार, 'संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न

* **संपर्क** – शोधार्थी, हिन्दी विभाग, पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना, पता – ग्राम–बलरा किशुन, पोस्ट–बलरा ईस्माइल, थाना– मनियारी, जिला– मुजफ्फरपुर – 844112, (बिहार), दूरभाष– 8240899752, ई–मेल– abhaypuri16@gmail.com

अवस्था है। यह मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि है।'[2] 'संस्कृति जीवन का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं, इसीलिए जिस समाज में हम पैदा हुए हैं, अथवा जिस समाज में मिलकर हम जी रहे हैं, उसकी संस्कृति हमारी है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं, वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी संतानों के लिए छोड़ जाते हैं।'[3] संस्कृति समाज द्वारा अर्जित की गई बहुमूल्य निधि है। समाज और संस्कृति भी एक दूसरे पर निर्भरशील है। संस्कृति के विभिन्न मूल्य सामाजिक मूल्यों के आधार बनते हैं।

अभिमन्यु अनत के अधिकांश उपन्यास सांस्कृतिक चेतना से ओतप्रोत हैं। सांस्कृतिक चेतना का अर्थ संस्कृति संबंधी चेतना से है। 'चेतना' का सामान्य अर्थ है– चैतन्य, सोचना–विचारना, विवेक से काम लेना। यह 'चेतना' शब्द ही संस्कृति के साथ युक्त होकर संस्कृति संबंधी व्यक्तिगत प्रयास, प्रगति आदि का उद्‌घाटन करता है। सांस्कृतिक चेतना सांस्कृतिक तत्वों, मूल्यों, मान्यताओं, आस्थाओं के प्रति क्रियाशीलता की भावना है। सांस्कृतिक चेतना हमें संस्कृति के प्रति जागरूक रहने के लिए प्रेरित करती है। दरअसल संस्कृति की अस्मिता ही सांस्कृतिक चेतना है। मानव को अपनी संस्कृति से रूबरू कराने में सांस्कृतिक चेतना का अहम योगदान है।

सांस्कृतिक उत्कर्ष से तात्पर्य है संस्कृति को श्रेष्ठता तथा समृद्धि प्रदान करने वाले तत्व। इनके उपन्यासों में हमें सांस्कृतिक उत्कर्ष का स्वरूप देखने को मिलता है। किसी भी संस्कृति के तत्व एवं संस्थाएं उस संस्कृति को उच्च एवं आदर्श स्थान दिलाने में सक्षम होती है। मानव समाज के समग्र उत्थान के साथ–साथ सांस्कृतिक संस्थाएं धर्म, संस्कार, सहयोग, सदाचार, सहिष्णुता, सांस्कृतिक उत्थान कायम करती हैं। ये सभी तत्व मानव की विचारधराओं एवं रोजमर्रा के क्रियाकलापों में सम्मिलित रहते हैं। संस्कृति को गतिशील रखने में इनका अहम योगदान है।

भारत की तरह मॉरीशस भी विभिन्न संस्कृतियों के संगम से बना है। यहाँ की अधिकांश आबादी विभिन्न द्वीपों जैसे, यूरोप, एशिया, अफ्रिका से आकार बसे हुए लोगों की है। मॉरीशस में भारतवंशी बहुसंख्यक हैं। अभिमन्यु अनत अपने उपन्यासों में मॉरीशस में भारतीय संस्कृति की नींव पड़ने से लेकर उसके आरंभ, विकास और संघर्ष को दर्शाया है। इन्होंने गर्व के साथ भारतीय संस्कृति को अपने उपन्यासों में वर्णित किया है। इन्होंने अपने उपन्यासों में संस्कृति को प्रगति के पथ पर अग्रसर करने वाली सांस्कृतिक संस्थाओं के अंतर्गत परिवार, विवाह तथा शिक्षा संस्थाओं का वर्णन प्रमुखता के साथ किया है।

अपने उपन्यासों में इन्होंने परिवार को विशेष महत्व दिया हैं। इनके उपन्यासों में पात्र परिवार के साथ यहाँ तक कि संयुक्त परिवार में जीवन जीते

हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इन परिवारों में माता–पिता, भाई–बहन, चाचा–चाची, बेटी–दामाद, सास–ससुर आदि तमाम तरह के रिश्तों के उदाहरण मिलते हैं। उदाहरण के लिए इनके उपन्यास 'और नदी बहती रही' की स्त्री पात्र कृष्णावती परिवार का सदस्य नहीं है फिर भी वह बेटी की तरह घर में रहती है। इन्होंने अपने उपन्यासों में यह दर्शाया है कि कुटुंब या परिवार में रहने वाले प्रत्येक सदस्य का आपस में रक्त संबंध हो यह आवश्यक नहीं है। संबंध सिर्फ रक्त से ही नहीं बनता, आत्मा से भी बनता है। मन से निर्मित रिश्ते भी कुटुंब का निर्माण करते हैं। इस उपन्यास की स्त्री पात्र कृष्णावती और पात्र मधुकर मन मात्र के रिश्ते से भाई–बहन के रिश्ते में बंधे हैं। भाई–बहन का यह प्रेम लेखक ने 'पर पगडंडी नहीं मरती' उपन्यास में भी दर्शाया है। इस उपन्यास में लछमी विक्रम की सगी बहन नहीं थी परंतु वह ''पराई होकर भी कभी परायी नहीं थी'।[4] 'अपना मन उपवन' उपन्यास में रामचरण, धर्मा, निशा आदि पात्र एक परिवार के समान जीवन निर्वाह करते हैं, 'कई बार ऊपर से बनकर आए रिश्ते जीवन–पर्यन्त के अटूट रिश्ते बन जाते हैं।'[5] रामचरण के परिवार सभी लोग मृत्यु को प्राप्त हो गए हैं। अब उसके खेतों में काम करने वाले लोग ही उसका परिवार हैं। यही लोग उसके सुख–दुःख के साझीदार हैं।

विवाह नामक पवित्र बंधन का निर्माण हमारे पूर्वजों द्वारा मानवीय संबंधों को सांस्कृतिक रूप देने के उद्देश्य से किया गया था। इनके उपन्यासों में चित्रित पात्र विवाह के पश्चात एक दूसरे के साथ अटूट बंधन में बंधते हुए नजर आते हैं। विवाह को प्रेम की सामाजिक पहचान के रूप में मान्यता प्राप्त है। यह संबंधों को स्थिरता प्रदान करता है। उदाहरण के लिए 'तीसरे किनारे पर' उपन्यास में राकेश के जीवन में अनेक लड़कियां आती हैं। इन सभी लड़कियों के साथ उसका प्रेम–संबंध रहता है परंतु अंत में वह पढ़ाई के लिए विदेश जाने से पहले एक मंदिर में अरुणा से विवाह करता है। विवाह के अटूट बंधन के निर्वाह के साथ ही वह राकेश को वचन देती है कि, 'मैं तुमसे दूर रहकर भी तुम्हारी रहूँगी राकेश। यह मेरा वचन है।'[6] 'लाल पसीना' उपन्यास में अभिमन्यु अनत ने मॉरीशस की धरती पर सर्वप्रथम सम्पन्न सोम और संतू के विवाह का वर्णन किया है।

अभिमन्यु अनत ने अपने उपन्यासों में शिक्षा को संस्कृति से सम्बद्ध करके दर्शाया है। हमारे पूर्वजों ने शिक्षा को संस्कृति के साथ जोड़कर उसे प्रवाहमान बनाने का प्रयास किया है। डॉ राधा कृष्णन शिक्षा को संस्कृति के साथ जोड़ते हुए कहते हैं कि, 'शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसमें हम अपनी संस्कृति के अमूल्य तत्वों का संरक्षण करते हुए अनावश्यक तथ्यों का बहिष्कार करने में समर्थ होते हैं।'[7] मॉरीशस गए लोगों को शुरुआती दिनों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ा। मॉरीशस के इतिहास में हिन्दी को जन–जन तक पहुँचाने में बैठका का विशेष महत्व है। इन हिन्दी प्रेमियों ने अपने द्वारा लाए गए धार्मिक ग्रंथों की शिक्षा देकर बच्चों को हिन्दी भाषा से जोड़े रखा। उदाहरण के लिए

'कुहासे का दायरा' उपन्यास में बड़ी संख्या में बच्चे बैठका में पढ़ने जाते हैं, 'मंदिर के विस्तृत आँगन के दूसरे छोड़ पर बच्चे हिन्दी पढ़ रहे थे। बच्चों का यह कोलाहल मंदिर के वातावरण को पूरी रमणीयता और सजीवता दे रहा था।'[8]

किसी भी संस्कृति की अस्मिता सांस्कृतिक मोह पर आधारित होती है। इस सांस्कृतिक मोह को इन्होंने गहरे रूपों में अपने उपन्यासों में दर्शाया है। इनके उपन्यासों में धार्मिक मोह का चरमोत्कर्ष है। इसके अंतर्गत इन्होंने ने बहुदेववाद, पूजा–पाठ, व्रत–उपवास, पर्व–त्योहार, गंगाजल का महत्व, सूर्य–अर्घ्य, अंधविश्वास व पिछड़ापन आदि का वर्णन किया है। अपने उपन्यासों में इन्होंने मॉरीशस के लोगों में व्याप्त धार्मिक मोह की भावना का उद्घाटन किया है। देवमंदिरों में काली माता, राधा–कृष्ण, दुर्गा, हनुमान, भोले बाबा आदि देवताओं के तस्वीरों व मूर्तियों को रखने का वर्णन मिलता है। 'पर पगडंडी नहीं मरती' उपन्यास का पात्र विक्रम एक अन्य पात्र नंदूलाला जो भ्रष्ट है तथा पैसा लेकर लोगों को काम देता है उससे अत्यधिक परेशान है। इसके निदान के लिए वह अपने अंतर्मन में ही नंदूलाला को सौगंध दिलाता है, 'कहो कालीमाई की सौगंध, मजदूरों से पैसा लिया तो कालीमाई से वास्ता पड़ेगा।'[9] विक्रम का दृढ़ विश्वास है कि इससे नंदूलाला घूस लेना बंद कर देगा।

'मेरा निर्णय' उपन्यास में अमिता जब विदेश जाती है तब उसकी माँ उसके सामान के साथ देवी–देवताओं की तस्वीरें भी रख देती है। उसे दृढ़ विश्वास है कि तस्वीर के साथ रहने से अमिता पर ईश्वर की कृपा सदा बनी रहेगी। अमिता कहती है कि लंदन आने से पूर्व 'माँ ने मेरे सूटकेस में दुर्गा की एक तस्वीर के साथ और तीन तस्वीरें भी रख दी थी, एक भगवान कृष्ण की थी, दूसरी शिव जी और तीसरी हनुमान जी की थी।'[10]

इनके उपन्यासों में वर्षा के देवता माने जाने वाले इंद्रदेव का वर्णन मिलता है। 'पर पगडंडी नहीं मरती' उपन्यास में इंद्रदेवता को खुश करने के साथ ही नाराज करने की प्रथा भी है। लोगों के बीच यह मान्यता है कि इंद्रदेवता को नाराज करने पर बारिश होगी। लोग, 'जमीन पर दायरा बनाकर बीच में कंकड़ रखकर वे उसपर थूक–थुकाकर कहते, इंदरवा–इंदरवा ताकि इंद्रदेव उस गाली से नाराज होकर बरस उठे।'[11] इसके साथ ही इनके उपन्यासों में सूर्यदेवता का भी जिक्र है। हिन्दू धर्म में सूर्य को जल चढ़ाकर उसकी उपासना की जाती है। 'मार्कट्वेन का स्वर्ग' उपन्यास में सूर्य नमस्कार का उल्लेख है जिससे सिल्वी की स्मृति में अपने पिता द्वारा बतलाई बात कौंध जाती है, 'उसके पूर्वज विरामीचों सूर्य का हर सुबह इसी तरह नमस्कार किया करते थे। वह कहते हैं कि सूर्य ही सभी कुछ देने वाला और लेने वाला है, इसीलिए इंका परंपरा में उसका नमस्कार अनिवार्य था।'[12]

हिन्दू धर्म में देवी–देवताओं की पूजा–पाठ का विशेष महत्व है। इनके उपन्यासों में चित्रित पात्र अपने रोजमर्रा के जीवन में देवी–देवताओं का पूजा–पाठ

करते हैं। पूजा–स्थलों को साफ–सुथरा रखा जाता है। इनके उपन्यासों में हिन्दू मान्यताओं के अनुसार बलि देने का भी जिक्र है। पूजा के दिन ही बलि देने के लिए तलवार को बाहर निकाला जाता है। 'एक बीघा प्यार' उपन्यास का एक पात्र सोम बलि के लिए प्रयोग की जाने वाली तलवार को जब बाहर निकालता है तब उस पर 'सिंदूर के टीके अब भी चमक रहे थे।'[13] मंदिर में पूजा करते समय शंख बजाने का भी उल्लेख है। 'चुन–चुन चुनाव' उपन्यास में 'पूजा घर में शंखनाद किया जाता है।'[14]

इन्होंने अपने उपन्यासों में मॉरीशस के लोगों में प्रचलित व्रत–उपवास की परंपरा का भी उल्लेख किया है। सैकड़ों वर्षों के पश्चात भी मॉरीशस के भारतीय व्रत–उपवास की प्रथा को विस्मृत नहीं कर पाए हैं, वे उनका श्रद्धा के साथ उनका पालन करते हैं। उदाहरण के लिए 'चौथा प्राणी' उपन्यास की पात्रा कमला अपनी सखी वीणा से एकादशी के व्रत के बारे में पूछती है। वहाँ के लोगों खासकर स्त्रियों में यह मान्यता है कि एकादशी का व्रत रखने से योग्य वर की प्राप्ति होती है। इसीलिए कमला वीणा से उपहास करते हुए कहती है कि, 'तुम्हें जो मिलना था मिल गया। अब तो एकादशी का व्रत रखना न के बराबर है।'[15] इसके पश्चात भी वीणा उपवास रखती है। वीणा व्रत को स्वार्थ सिद्धि का साधन नहीं मानती है। एक अन्य प्रसंग में वीणा कहती है कि, 'मैं जब उपवास करती हूँ तो मुँह में कुछ नहीं डालती। पारण के बाद खाऊँगी।'[16]

भारतीय संस्कृति में पर्व–त्योहार मनाने की परंपरा सदियों से चली आ रही है। भारत के समान ही मॉरीशस के लोग विभिन्न पर्व–त्योहार मनाते हुए नजर आते हैं। यहाँ दीवाली, होली, संक्रांति, ईद, ईस्टर, क्रिसमस आदि त्योहार हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता हैं। उदाहरण स्वरूप 'अपना मन उपवन' उपन्यास के अंत में वर्षारंभ का पर्व मनाया जाता है। रामचरण निशा तथा धर्मा को संबोधित करते हुए कहता है कि, 'हम एक साथ युग को बदलते हुए देखेंगे, एक नयी शताब्दी का स्वागत करेंगे, एक दूसरे को मंगलकामनाएं देंगे। तीस सेकंड बाद पटाखों के साथ पूजा–घरों के घंटे बज उठे।'[17] तीनों ने एकसाथ मिलकर नववर्ष के आगमन का स्वागत किया। गिरमिटिया मजदूरों ने जब भारत से मॉरीशस प्रवास किया था तब वे अपने साथ भारतीय संस्कृति भी ले गए थे। अभिमन्यु अनत ने अपने उपन्यासों में गंगा नदी का महत्व भी प्रतिपादित किया है। मॉरीशस के लोगों को गंगा पर अगाध विश्वास है। गंगा तथा गंगाजल को अत्यंत पवित्र माना जाता है तथा गंगाजल का प्रयोग पूजा–पाठ एवं अन्य शुभ कार्यों में किया जाता है। 'हम प्रवासी' उपन्यास में मधुवा का पिता जब मॉरीशस जाता है तब वह अपने साथ भारत से गंगाजल लेकर जाता है। वह मधुवा को अपनी इच्छा व्यक्त करते हुए कहता है कि, 'गंगा का यह पानी तुम्हारे खेतों को हरा–भरा रखेगा।'[18]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अभिमन्यु अनत ने अपने अधिकांश

उपन्यासों में भारतीय संस्कृति तथा सांस्कृतिक चेतना के सभी रूपों को दर्शाया है। भारत से आए गिरमिटिया मजदूर अपने साथ रामचरितमानस, रामायण, महाभारत, हनुमान चालीसा आदि धार्मिक ग्रंथों को लेकर आए थे। ये धार्मिक ग्रंथ ही विदेशी भूमि पर उनके अस्तित्व एवं अस्मिता की रक्षा के आधार बने। ये लोग अपने पूर्वजों द्वारा दी गई शिक्षा, संस्कार,संस्कृति को विस्मृत नहीं कर पाए। संस्कृति के जिस स्वरूप से लोगों का मोह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी ज्यों का त्यों बना हुआ है, उसे लेखक ने अपने उपन्यासों में दर्शाया है। देवी–देवताओं के प्रति आराधना, व्रत–उपवास, पूजा–पाठ, साधारण जनता के नित्य कर्म हैं। एक विश्वास से जुड़े ये धार्मिक एवं सांस्कृतिक मोह के तत्व मानव के नए एवं शुभ कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। एक–दूसरे के साथ घुलमिल कर रहने तथा जीवन में नई उमंग तथा ऊर्जा के संचार हेतु विभिन्न पर्व–त्योहार मनाए जाते हैं। इसी प्रकार अभिमन्यु अनत के औपन्यासिक पात्रों को गाय, गंगाजल तथा सूर्य अर्घ्य को महत्व देते हुए देखा गया है। धार्मिक अनुष्ठानों तथा मान्यताओं के साथ–साथ अभिमन्यु अनत के उपन्यासों में वर्णित मॉरीशसीय समाज के लोगों में विभिन्न रूढ़िवादी विश्वासों के प्रति मोह है। अभिमन्यु अनत के उपन्यासों में चित्रित जादू–टोना, भूत–प्रेत, झाड़–फूँक, स्वप्न, पुनर्जन्म पर विश्वास आदि के उदाहरण लोगों में सांस्कृतिक मोह को उद्घाटित करते हैं। इसी को आधार बनाकर अभिमन्यु अनत ने अंधविश्वास की परतों को खोला है। सांस्कृतिक मोह के अंतर्गत अभिमन्यु अनत ने लोकगीत, साहित्य, लोकभाषा का उल्लेख भी अपने उपन्यासों में किया है। कुल मिलाकर यही वे कारक हैं जिनसे संस्कृति शब्दायित होती है। इनसे मानव अपनी संस्कृति से रूबरू हो सकता है तथा अपनी नई पीढ़ी तक पहुँचा सकता है।

संदर्भ–सूची :

1. गोयनका डॉ कमलकिशोर : अभिमन्यु अनत की साहित्य यात्रा, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2019, पृ. 36
2. दिनकर रामधारी सिंह : संस्कृति के चार अध्याय, राजपाल एण्ड संस, नई दिल्ली, सं. 1956, पृ.05
3. वही, पृ. 653
4. अनत अभिमन्यु : पर पगडंडी नहीं मरती, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, सं. 1983, पृ. 22
5. अनत अभिमन्यु : अपना मन उपवन, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2006, पृ. 86–87
6. अनत अभिमन्यु : तीसरे किनारे पर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सं. 1976, पृ. 252
7. कालीचरण जनार्दन (सं.) व अन्य : मॉरीशस में हिन्दी साहित्य, संस्कृति और

प्रह्लाद रामशरण, आत्माराम एण्ड संस, नई दिल्ली, सं.1993, पृ. 75
8. अनत अभिमन्यु : कुहासे का दायरा, राजपाल एण्ड संस, नई दिल्ली, सं. 1978, पृ.107
9. अनत अभिमन्यु : पर पगडंडी नहीं मरती, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सं.1983, पृ.193
10. अनत अभिमन्यु : मेरा निर्णय, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, सं. 2009, पृ. 35
11. अनत अभिमन्यु : पर पगडंडी नहीं मरती, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सं. 1983, पृ. 159
12. अनत अभिमन्यु : मार्कट्वेन का स्वर्ग, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.1985, पृ.202
13. अनत अभिमन्यु : एक बीघा प्यार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2000, पृ.87
14. अनत अभिमन्यु : चुन–चुन चुनाव, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.1983, पृ. 80
15. अनत अभिमन्यु : चौथा प्राणी, ज्ञान प्रकाशन, नई दिल्ली सं. 1977, पृ. 86
16. वही, पृ. 86
17. अनत अभिमन्यु : अपना मन उपवन, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2006, पृ. 335
18. अनत अभिमन्यु : हम प्रवासी, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2009, पृ. 335

■

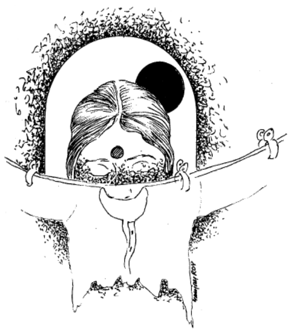

अस्मिता चिंतन

डॉ. अम्बेडकर और जोतिबा फूले

प्रो. मीना शर्मा *

डॉ. भीमराव अम्बेडकर आधुनिक भारत के निर्माता, संविधान के जनक और सामाजिक समरसता के प्रतीक महापुरुष थे। डॉ. अम्बेडकर की गिनती 20वीं शताब्दी के महान राष्ट्रीय नायकों में की जाती है। सामाजिक न्याय और मानवाधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए उनका भारतीय संविधान निर्माण करने की ऐतिहासिक भूमिका भारतीय लोकतंत्र के लिए मील का पात्थर है। वास्तव में डॉ. अम्बेडकर आधुनिक भारत के निर्माण के शिल्पकार हैं। जो धर्म, जाति, सम्प्रदाय, लिंग, भाषा आदि में विभाजित एक भक्ति की पहचान एक नागरिक के रूप में करते हुए सभी के समानाधिकार और मानवाधिकार की एकता की घोषणा करता है। डॉ. अम्बेडकर की बौद्धिक प्रखरता, अध्येता, कुशल प्रशासकीय क्षमता और दूरदृष्टि ने राष्ट्र–निर्माण में बहुमूल्य योगदान दिया है। वे सच्चे अर्थों में भारतीय समाज के वंचित, शोषित, दलित वर्गों के मसीहा थे। सभी भारतीय के एक समान अधिकार प्रदान करके डॉ. अम्बेडकर ने सामाजिक भेद–भाव की सदियों पुरानी दीवार को गिराकर सामान्य न्याय के ताने–बाने के साथ एक मजबूत लोकतंत्र और एक शक्तिशाली गणतंत्र की नीव भारत में स्थापित करने का ऐतिहासिक एवं स्तुत्य कार्य किया। भारतीय लोकतंत्र एवं आजादी को 'इनक्लूसिव' बनाने में डॉ. अम्बेडकर का आधुनिक संविधान गणतंत्र का राष्ट्रीय धर्मग्रंथ है, जिसमें न कोई बड़ा है, न कोई छोटा है, न कोई राजा है और न कोई रंक है। जिसमें 'हम' सब भारत के लोग हैं, 'हम' सब भारतीय हैं।

डॉ. अम्बेडकर फाउण्डेशन की स्थापना सन् 1992 में भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री पी.वी. नरसिम्हाराव के द्वारा डॉ. भीमराव अम्बेडकर की जन्म शताब्दी उत्सव समारोह के रूप में बाबा साहब अम्बेडकर के सपनों के भारत को साकार करने हेतु किया गया था। इस फाउण्डेशन का पंजीकरण 'सोसायटी रजिस्ट्रेशन एक्ट, 1860 के अन्तर्गत 24 मार्च 1992 में 'मिनिस्ट्री ऑफ वेलफेयर' के अन्तर्गत किया गया था, जो अब 'मिनिस्ट्री ऑफ सोशल जस्टिस एंड इम्पावरमेंट' के अन्तर्गत आता है।

*** संपर्क** – शोधार्थी, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, पता – न्यू पीएच.डी गर्ल्स हॉस्टल, बीएचयू, जिला– वाराणसी – 221005, (उ.प्र.), दूरभाष – 9641381750 ई–मेल– s1.nehasrivastava@gmail.com

अम्बेडकर फाउण्डेशन का लक्ष्य गैर सरकारी संगठनों/संस्थाओं/महाविद्यालयों/विश्वविद्यालयों को वित्तीय सहायता प्रदान कर बाबा साहेब के सपनों को साकार करना एवं बाबा साहेब की स्मृति को पीढ़ी–दर–पीढ़ी जीवित रखने के लिए अस्पृश्यता उन्मूलन के खिलाफ विशेष अभियान का आयोजन करना, आधुनिक सौहार्द एवं भाईचारे की संस्कृति को आयोजित व्याख्यान, संगोष्ठी आदि के माध्यम से सामाजिक–आर्थिक समरसता का वातावरण निर्मित करना है।

डॉ. अम्बेडकर फाउ.डेशन के लक्ष्य को विभिन्न योजनाओं के माध्यम से साकार करने हेतु वित्तीय अनुदान/सहयोग प्रदान कर भारत के अन्य महान संत एवं सामाजिक न्याय के पैरोकारों की जन्म/मृत्यु शताब्दी के उत्सवों के आयोजन के माध्यम से उनके संदेश को जनता तक पहुंचाने का कार्य किया जाता है। ये महान विभूतियां जैसे– संत कबीर, गुरु रविदास, गुरु घासीदास, नारायण गुरू, नामदेव, भगवान बुद्ध, महर्षि वाल्मीकि, महात्मा जोतिबा फूले, सावित्री बाई फूले, डॉ. भीमराव अम्बेडकर हैं। इन महान संत–महापुरुषों के अतिरिक्त भी फाउण्डेशन द्वारा समय–समय पर अनुमोदित अन्य संतों, जिन्होंने अथक प्रयासों से सामाजिक न्याय को बढ़ावा देने, असमानता उन्मूलन, समाज के कमजोर वर्गों के बीच व्याप्त भेद–भाव एवं अस्पृश्यता उन्मूलन के लिए अपना समग्र जीवन समर्पित कर दिया, वैसे संतों के जन्म–जयन्ती समारोह के आयोजन की योजना के लिए फाउण्डेशन वित्तीय अनुदान/सहयोग प्रदान करता है।

डॉ. अम्बेडकर फाउण्डेशन द्वारा अनुमोदित महान विभूतियों में से एक बड़ा नाम और पहचान हैं– 'जोतिबा फूले' (1827–1890)। मराठी नवजागरण के दलित महानायक एवं वंचित/शोषित लोगों के सशक्तिकरण के सघर्ष पुरुष 'जोतिबा फूले' के यागदान को नमन करते हुए पीजीडी,वी कॉलेज उनके कार्य, उनके विचार, उनके संदेश को समाज के कमजोर वर्ग के समक्ष ले जाने के लिए उनकी जयन्ती समारोह के माध्यम से विशेष आयोजन एवं विभिन्न गतिविधियों की योजना लेकर उपस्थित हुआ है। जोतिबा फूले जीवन–संघर्ष एवं हौसलों की उड़ान से कमजोर वर्ग को ताकतवर बनाने हेतु जोतिबा फूले का योगदान एवं जीवन परिचय आवश्यक है।

जोतिबा फूले (1827–1890) : भारतीय नवजागरण के मराठी महानायक ,वं मराठी नवजागरण के दलित संघर्ष मुख्य ज्योतिबा फूले का जन्म 1827 में महाराष्ट्र में हुआ था। समाज के कमजोर, वंचित, शोषित, दलित वर्ग को सामाजिक न्याय, सामाजिक समानता एवं सामाजिक सम्मान के लिए अपना संपूर्ण जीवन खपा दिया। सामाजिक अस्पृश्यता, भेदभाव के उन्मूलन का लक्ष्य ही जोतिबा फूले के जीने और जीवन का लक्ष्य था। सामाजिक भेदभाव के उन्मूलन के माध्यम से सामाजिक रूपान्तरण और सामाजिक कायाकल्प करने वालों में से आरम्भिक नाम हैं– जोतिबा फूले'।

भारतीय नवजागरण के प्रभावस्वरूप विभिन्न सुधारवादी सामाजिक आंदोलन जब बंगाल एवं महाराष्ट्र में उठ खड़े हुए तब उनका दायरा, संबंध एवं कार्यक्षेत्र क्रमशः 'सवर्ण' एवं 'सवर्णलोक' तक ही सीमित था। यानी समाज के मजबूत 'भद्रलोक' तक ही समाज–सुधार की ज्योति जल रही थी, समाज के कमजोर एवं अवर्णलोक उपेक्षित था। एसे ही उपेक्षित एवं कमजोर लोगों में ज्योति जलाने का ऐतिहासिक एवं स्तुत्य कार्य किया– 'जोतिबा फूले' ने ऐसे कमजोर एवं वंचित तबकों को इम्पावर्रड कर समाज के नवनिर्माण का आंदोलन छेड़कर जोतिबा फूले ने भेदभावपर्णवादी समाज के पुनर्गठन का नया मार्ग खोला। सामाकि कट्टरता एवं कूपमंडुपवाद के बीच ऐसे साहसिक कार्यों को जमीन पर उतारने के लिए उन्हें जीवन में कई बार अपमान हिंसा एवं विरोध का सामना करना पड़ा, किन्तु अपमान का जहर पीते हुए भी जोतिबा फूले ने अपना अभियान एंव आंदोलन को जीवन के आखिरी सांस तक अथक जारी रखा। दलित जाति से संबंध रखने वाले जोतिबा फूले जातिवाद के दंश और भेदभाव के कंश के भुक्तभोगी थे। वे कमजोर वर्गों के बीच सुधारवाद की नई चेतना और जागरण का स्वर बुलन्द करना चाहते थे। सामाजिक अज्ञानता एवं अशिक्षा को वे इस सामाजिक बीमारी एंव पिछड़ेपन की जड़ मानते थे। अतएव दलितों की जिन्दगी में परिवर्तन की कुंजी और सामाजिक सशक्तिकरण की पूंजी जोतिबा फूले शिक्षा को ही मानते थे। वे शिक्षा को दलितों के लिए महान अवसरों को सृजित करने वाली कुंजी मानते थे। इस सभ्रांत वास्तविकता से परिचालित होकर जोतिबा फूले ने संपूर्ण जीवन दलितों के बीच शिक्षा के समग्र प्रचार–प्रसार में अर्पित कर दिया। दलितों के बीच स्त्रियों की स्थिति उन्हें महादलित की लगी। इस कारण उन्होंने अपने कार्य–क्षेत्र के लिए दलित स्त्रियों का ही विशेष रूप से चयन किया। स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में जोतिबा फूले के किए गए ऐतिहासिक कार्य को शायद ही कभी भुलाया जा सकता है।

स्त्री और समाज सशक्तिकरण के लिए शिक्षा का द्वार स्त्रियों विशेषकर दलित स्त्रियों के लिए खोलकर एक ऐतिहासिक एवं अभूतपूर्व कार्य किया। एक परंपरागत और सवर्ण–अवर्ण में विभाजित जातिवादी समाज के भीतर स्त्री द्वारा शिक्षा ग्रहण करना, खासकर दलित स्त्री द्वारा शिक्षा–ग्रहण करना, उस जमाने के लिहाज से एक क्रांतिकारी घटना थी। रूढ़िवादी और कहरवादी वर्ग इस कार्य को तब समाज को गुमराह करने वाला और स्त्रियों के धर्म एवं शील भ्रष्ट करने वाला घृणित और दण्डात्मक कार्य मानता था। यही कारण था कि जोतिबा फूले कट्टर सनातनियों और पुरातनपंथियों के सदैव निशाने पर रहते थे और उन्हें तमाम विरोध एवं संबंध का सामना करना पड़ा। किन्तु जोतिबा फूले अविचलित होकर प्रत्यक विपरीत एवं अपमानजनक स्थिति का डटकर मुकाबला किया और अपने स्त्री शिक्षा–मिशन के कार्य को अबाध रूप से जारी रखा।

अपने स्त्री शिक्षा मिशन की दिशा में अपना पहला कदम बढ़ाते हुए जोतिबा फूले ने 1 जनवरी, 1848 को पूर्ण में कन्या विद्यालय महज 21 वर्ष की अल्पायु

में खोलकर अपने निर्भीक साहस एवं हौसलों के विराट उड़ान का अपना प्रथम परिचय एवं पहचान को स्थापित किया। इस मिशन में कदम–से–कदम मिलाकर इनका भरपूर साथ दिया, उनकी पत्नी सावित्री बाई फूले ने, जो कि इनके विद्यालय की प्रथम छात्रा थीं और कालान्तर में विद्यालय की प्रथम प्राध्यापिका बनीं।

जोतिबा फूले ने उसी वर्ष पूणे में ही अपना दूसरा स्कूल स्त्री शिक्षा के लिए 15 मई 1848 को हरिजन बस्ती में खोला। वे यहीं तक नहीं रूके बल्कि 3 जुलाई 1851 में महाराष्ट्र के प्रमुख समाज सुधारक विष्णुशास्त्री चिपलूणकर के सहयोग से उन्हीं के मकान में अछूत लड़कियों के लिए एक और नया स्कूल खोल दिया।

महात्मा फूले को जीवन में यदि विरोधियों के संघर्ष का सामना करना पड़ा तो वहीं दूसर ओर उन्हें ऐसे साथी एवं समर्थकों का भी साथ मिला, जो उनके मजबूत इरादों के साथ मजबूती से खड़े थे। जोतिबा फूले के दृढ़संकल्प और महान संकल्प को सफल बनाने में उस समय के प्रगतिशील समाज–सुधारकों, उदारवादी बुद्धिजीवियों का भरपूर सहयोग एवं समर्थन भी मिला। और साथ में मिला 'महात्मा' की उपाधि भी। महात्मा गांधी से पहले ही देश को एक महात्मा मिल चुका था। ज्योतिबा फूले से महात्मा फूले का उनका सफर फूल और कांटों का था।

शिक्षा एवं सामाजिक नवनिमाण के लि, जोतिबा फूले ने 23 सितम्बर 1873 में 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की। निम्न जाति के द्वारा और निम्न जाति के लिए संचालित होने वाला यह उस युग का एकमात्र समाज एवं संगठन था। निम्न जातियों में जागृति पैदाकर एक जन–आंदोलन खड़ा करने में इस 'सत्यशोधक समाज' की एक बड़ी भूमिका थी। वर्चस्व और अधीनस्थवादी सामाजिक व्यवस्था को चुनौती देते हुए यह समाज (सत्यशोधक समाज) उत्पीड़न और सामाजिक व्यवस्था के भेदभाव को चुनौती देने वाला, उत्पीड़न और शोषण के विरूद्ध एक बड़ा मंच था, अपने युग की यह एक बड़ी आवाज थी। उसमें से एक आवाज पुरोहितवाद के विरोध की भी थी। पुरोहितवादी व्यवस्था को शोषणकारी व्यवस्था मानकर इन्होंने सर्वपथम विवाह–समारोह में पुरोहित की अनिवार्यता को ही समाप्त कर दिया। इस मामले को पुरोहित वर्ग ने कोर्ट तक घसीट डाला। संपूर्ण पुरोहित वर्ग लामबंद होकर ज्योतिबा फूले पर टूट पड़े।

यहां तक कि ज्योतिबा फूले द्वारा भक्ति एवं ईश्वर–आराधना का माध्यम अपनी मराठी भाषा को बना, जाने पर भी संपूर्ण पुरोहित एवं ब्राह्मण वर्ग ने जोतिबा फूले का उपहास उड़ाया और उनकी खिल्ली उड़ाते हुए यह प्रचारित किया कि 'मराठी भाषा की प्रार्थना ईश्वर के पास पहुंच ही नहीं सकती, जोतिबा मूर्ख हैं। क्योंकि जोतिबा फूले ने अकेले खड़े होकर ईश्वर पर पुरोहित वर्ग के एकाधिकार एवं उनकी धार्मिक दुकानदारी की 'धर्मबंदी' कराने का बेड़ा जो उठाया था। जोतिबा फूले ने इन तमाम विरोधों का सामना अपने अनूठे अंदाज

में किया। उन्होंने कहा कि ईश्वर तक पहुंचने में कोई भी भाषा दीवार नहीं होती, इस विश्वास के साथ महात्मा फूले ने विरोधियों पर जमकर मोर्चा लिया एवं जमकर हल्लाबोल दिया। ईश्वर तक पहुंचने के सभी दीवारों को गिराकर उन्होंने कहा कि 'ईश्वर सबका है, जो जातिपांति नहीं मानता है, ईश्वर किसी भी भाषा में प्रार्थना सुन सकता है, ईश्वर के लि, मनुष्यता सबसे श्रेष्ठ है। जात–पात, वर्णभेद, ऊंच–नीच की दीवारें यह सब ब्राह्मणों की देन है, जो उन्होंने अपने लाभ के लिए खड़ी की है।

जोतिबा फूले ने पलटकर तर्क दिया कि ईश्वर जाति–विशेष और भाषा–विशेष की चीज नहीं है। ईश्वर भाषा और जाति से ऊपर है। अतएव ईश्वर के नाम पर यह विभाजनकारी व्यवस्था मनुष्य विरोधी है, जो ब्राह्मणों द्वारा निर्मित है न कि ईश्वर के द्वारा। समाज में सभी जातियों का महत्व है। इस महत्व का एहसास कराने के लिए 1875 में जोतिबा फूले ने पुणे के नाइयों से अपील किया कि वे ब्राह्मणों की हजामत न बनाएं। उनके अपील पर पुणे के नाइयों ने हड़ताल करके दाढ़ी बन्दी की भी घोषणा कर दिया।

'सत्यशोधक समाज' की स्थापना भी महात्मा फूले ने 'ब्रह्म समाज' और 'प्रार्थना समाज' के प्रति क्रियास्वरूप की थी, जिसे वे कुलीन लोगों के द्वारा कुलीन लोगों के लिए बना संगठन मारते थे। 'सत्यशोधक समाज' के माध्यम से उन्होंने कई प्रकार सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और मानवीय सत्य का शोधन किया। जोतिबा फूले ने चहुमुखी सत्य का अनुसंधान कर नारी शिक्षा का सत्य, दलित शिक्षा का सत्य, धर्म का सत्य, मनुष्यता का सत्य, स्वदेशी प्रचार का सत्य विधवा–जीवन का सत्य आदि सत्यों का उद्घाटन कर संपूर्ण समाज को जागृति का सत्य एवं संदेश दिया।

जोतिबा फूले पुनर्विवाह के लिए भी प्रयासरत थे। उनके एजेंडे में विधवा स्त्री को नारकीय जीवन से मुक्ति कराना भी था। यही कारण था कि उन्होंने गर्भवती विधवाओं के लिए विधवा आश्रय की स्थापना कर समाज–सुधार के कार्यों को मजबूती प्रदान किया।

सामाजिक समरसता एवं सामाजिक न्याय के लिए संवेदनशीलता और मानवीय आधार पर उनके द्वारा किए गए ऐतिहासिक और क्रांतिकारी कार्यों के कारण ही महात्मा जोतिबा फूले का नाम सिर्फ महाराष्ट्र के समाजसुधारक के रूप में न लेकर वरन् दलितों के मसीहा और शोषितों के मुक्तिदाता के रूप में संपूर्ण भारत में आदर एवं सम्मान के साथ लिया जाता है। भारतीय नवजागरण एवं दलित जागरण के पुरोधा के रूप में उनका नाम इतिहास के पन्नों पर स्वर्णिम अक्षर से लिखा गया है।

■

<u>अस्मिता चिंतन</u>

डॉ. अंबेडकर और डॉ. लोहिया की सामाजिक न्याय की परिकल्पना

डॉ. शैलेन्द्र सिंह *

डॉ. भीमराव अंबेडकर और डॉ. राममनोहर लोहिया भारतीय सामाजिक सुधार आंदोलन के दो प्रमुख स्तंभ हैं, जिन्होंने सामाजिक न्याय को अपने विचारों और कार्यों का केंद्र बिंदु बनाया। डॉ. अंबेडकर ने जाति प्रथा के उन्मूलन, शिक्षा के प्रसार और संवैधानिक उपायों के माध्यम से वंचित वर्गों को सशक्त बनाने पर जोर दिया। उन्होंने सामाजिक न्याय के लिए आरक्षण और समानता की नीतियों की वकालत की। वहीं, डॉ. लोहिया ने जाति तोड़ो आंदोलन, समाजवाद और चौखंभा राज की अवधारणा के जरिए सामाजिक और आर्थिक असमानता को समाप्त करने का प्रयास किया। दोनों विचारकों के दृष्टिकोण और कार्यप्रणाली में भिन्नता होने के बावजूद, उनका उद्देश्य समानता और न्यायपूर्ण समाज की स्थापना था।

सामाजिक न्याय का उद्देश्य समाज के सभी वर्गों को समान अवसर, अधिकार और गरिमा प्रदान करना है। यह अवधारणा विशेष रूप से भारत के लिए प्रासंगिक है, जहां जाति, वर्ग और लिंग के आधार पर लंबे समय से असमानताएं व्याप्त रही हैं। भारतीय समाज में इन असमानताओं को समाप्त करने और एक न्यायपूर्ण व्यवस्था स्थापित करने के लिए कई विचारकों और सुधारकों ने योगदान दिया। इनमें डॉ. भीमराव अंबेडकर और डॉ. राममनोहर लोहिया का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

डॉ. अंबेडकर ने जाति–आधारित भेदभाव को समाप्त करने और दलित वर्गों को सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक अधिकार दिलाने के लिए संविधान निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनकी परिकल्पना संवैधानिक प्रावधानों, आरक्षण नीति और बौद्ध धर्म के माध्यम से वंचित वर्गों के सशक्तिकरण पर आधारित थी। दूसरी ओर, डॉ. लोहिया ने जाति प्रथा और आर्थिक असमानता को समाप्त करने के लिए समाजवादी दृष्टिकोण अपनाया। उनका 'चौखंभा राज' और 'जाति तोड़ो आंदोलन' सामाजिक न्याय की दिशा में क्रांतिकारी कदम थे।

---

* **संपर्क** – विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, जे. एस. विश्वविद्यालय, शिकोहाबाद, उत्तर प्रदेश।

सामाजिक न्याय का अर्थ है समाज के सभी वर्गों को समान अवसर, अधिकार और सम्मान प्रदान करना। यह अवधारणा विशेष रूप से भारत जैसे देश में प्रासंगिक है, जहां जाति, धर्म और आर्थिक असमानता के कारण समाज विभाजित रहा है। डॉ. भीमराव अंबेडकर और डॉ. राममनोहर लोहिया ने सामाजिक न्याय को अपने विचारों और आंदोलनों का केंद्र बनाया। अंबेडकर ने जातिगत भेदभाव समाप्त कर दलित वर्गों को अधिकार दिलाने पर ध्यान केंद्रित किया, जबकि लोहिया ने समाजवाद और जाति तोड़ो आंदोलन के माध्यम से समानता स्थापित करने का प्रयास किया।

डॉ. भीमराव अंबेडकर की सामाजिक न्याय की परिकल्पना

1. जाति उन्मूलन और सामाजिक समानता

अंबेडकर का मानना था कि जाति प्रथा भारतीय समाज के विकास में सबसे बड़ी बाधा है। उन्होंने इसे समाप्त करने के लिए संघर्ष किया और "Annihilation of Caste" (जाति का उन्मूलन) नामक पुस्तक लिखी। उनका तर्क था कि जब तक जातिगत भेदभाव समाप्त नहीं होगा, तब तक सामाजिक न्याय संभव नहीं है।

2. शिक्षा और सशक्तिकरण

अंबेडकर ने शिक्षा को सामाजिक न्याय प्राप्त करने का सबसे प्रभावी साधन माना। उनका नारा, 'शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो,' दलित समुदाय के सशक्तिकरण की दिशा में एक स्पष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

3. संवैधानिक सुधार

डॉ. अंबेडकर ने भारतीय संविधान का निर्माण करते समय सामाजिक न्याय को केंद्र में रखा। उन्होंने अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की, जिससे उन्हें शैक्षणिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में समान अवसर मिल सके।

4. धर्म और सामाजिक न्याय

अंबेडकर ने धर्म को सामाजिक समानता का साधन माना और बौद्ध धर्म को अपनाया। उनका मानना था कि बौद्ध धर्म की शिक्षाएं जाति और भेदभाव को समाप्त कर सकती हैं। उन्होंने कहा, 'मैं हिंदू के रूप में जन्मा, लेकिन हिंदू के रूप में मरूंगा नहीं।'

डॉ. राममनोहर लोहिया की सामाजिक न्याय की परिकल्पना

1. समाजवाद और आर्थिक समानता

लोहिया ने समाजवाद के माध्यम से सामाजिक न्याय की वकालत की। उनका मानना था कि आर्थिक असमानता को समाप्त किए बिना समाज में वास्तविक न्याय स्थापित नहीं किया जा सकता। उन्होंने 'सपने और संघर्ष' के माध्यम से समाज में समानता की दिशा में कार्य किया।

2. जाति तोड़ो आंदोलन

डॉ. लोहिया ने जातिवाद को भारतीय समाज की सबसे बड़ी समस्या माना। उनका जाति तोड़ो आंदोलन सामाजिक न्याय की दिशा में एक क्रांतिकारी कदम था। लोहिया का मानना था कि जाति–आधारित भेदभाव को समाप्त किए बिना सामाजिक न्याय की कल्पना नहीं की जा सकती।

3. चौखंभा राज और विकेंद्रीकरण

लोहिया की चौखंभा राज की परिकल्पना सत्ता के विकेंद्रीकरण पर आधारित थी। उनका मानना था कि सत्ता का विकेंद्रीकरण समाज के वंचित वर्गों को अधिक अधिकार प्रदान करेगा और सामाजिक न्याय को बढ़ावा देगा।

4. महिला सशक्तिकरण और लैंगिक समानता

लोहिया ने महिलाओं के अधिकारों और उनके सशक्तिकरण पर जोर दिया। उनका मानना था कि सामाजिक न्याय में महिलाओं को समान अधिकार प्रदान करना अनिवार्य है। उन्होंने महिलाओं की समान भागीदारी का समर्थन किया।

डॉ. अंबेडकर और डॉ. लोहिया– एक तुलनात्मक अध्ययन

जाति प्रथा जाति उन्मूलन पर जोर, जाति तोड़ो आंदोलन का नेतृत्व शिक्षा, शिक्षा को सामाजिक सशक्तिकरण का माध्यम शिक्षा को जागरूकता और समानता का साधन माना। सामाजिक न्याय, आरक्षण और संवैधानिक उपायों पर जोर, समाजवादी संरचना और समानता की वकालत, आर्थिक समानता प्राथमिकता नही, आर्थिक समानता पर विशेष बल।

धर्म– बौद्ध धर्म को सामाजिक समानता का माध्यम माना धर्म के बजाय सामाजिक–आर्थिक सुधार पर जोर समकालीन समाज में प्रासंगिकता

1. जातिगत भेदभाव और आरक्षण

भारत में आज भी जातिगत भेदभाव व्यापक है। डॉ. अंबेडकर के विचार इस समस्या को हल करने में सहायक हो सकते हैं। आरक्षण प्रणाली, जो अंबेडकर की देन है, आज भी वंचित वर्गों के लिए अवसर प्रदान कर रही है।

2. आर्थिक असमानता

लोहिया के समाजवादी विचार आर्थिक असमानता को समाप्त करने में सहायक हो सकते हैं। भारत में बढ़ती आर्थिक विषमता को देखते हुए उनके विचार आज के समय में और भी अधिक प्रासंगिक हैं।

3. स्त्री सशक्तिकरण

लोहिया के विचार महिलाओं के अधिकारों और लैंगिक समानता की दिशा में प्रेरणा प्रदान करते हैं।

4. धर्म और सामाजिक बदलाव

अंबेडकर द्वारा धर्म को सामाजिक न्याय का साधन बनाने का दृष्टिकोण आज के धार्मिक विवादों और सामाजिक सुधारों के संदर्भ में महत्वपूर्ण है।

साहित्य का पुनर्वलोकन

डॉ. भीमराव अंबेडकर और डॉ. राममनोहर लोहिया की सामाजिक न्याय की परिकल्पना पर अध्ययन का एक समृद्ध और विस्तृत साहित्य उपलब्ध है। दोनों महान विचारकों ने सामाजिक सुधार, समानता और न्याय के क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान दिया, जिसे विभिन्न लेखकों, विद्वानों और इतिहासकारों ने व्यापक रूप से लिखा और विश्लेषित किया है। इस खंड में उनके विचारों से संबंधित प्रमुख ग्रंथों, शोधों और लेखों का पुनरावलोकन प्रस्तुत किया गया है।

1. डॉ. भीमराव अंबेडकर के साहित्य का पुनरावलोकन

!@mhglk` shmne B`rsd! (जाति का उन्मूलन) :: यह डॉ. अंबेडकर की सबसे प्रभावशाली रचनाओं में से एक है। इसमें उन्होंने जाति प्रथा के उन्मूलन की आवश्यकता पर बल दिया और सामाजिक समानता के लिए एक न्यायसंगत व्यवस्था का आह्वान किया। यह पुस्तक अंबेडकर के दृष्टिकोण को समझने के लिए एक आधारभूत ग्रंथ है।

"The Buddha and His Dhamma"-

अंबेडकर ने बौद्ध धर्म को सामाजिक न्याय और समानता का आधार मानते हुए इसे अपनाया। इस पुस्तक में उन्होंने बौद्ध धर्म के मूल्यों और उनके सामाजिक न्याय पर प्रभाव का वर्णन किया है।

2. डॉ. राममनोहर लोहिया के साहित्य का पुनरावलोकन

मार्क्स, गांधी और समाजवाद

इस पुस्तक में लोहिया ने समाजवाद, गांधीवादी विचारधारा और मार्क्सवाद का समन्वय प्रस्तुत किया। यह उनके समाजवादी दृष्टिकोण और सामाजिक न्याय की परिकल्पना को समझने का महत्वपूर्ण साधन है।

"Wheel of History" (इतिहास का चक्र)–

लोहिया ने इस पुस्तक में सामाजिक और ऐतिहासिक असमानताओं को समाप्त करने के लिए एक वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

जाति तोड़ो आंदोलन :

लोहिया के जाति उन्मूलन के प्रयासों को समझने के लिए "Lohia and Caste: Radical Equality in Indian Politics" (चमनलाल द्वारा) एक उल्लेखनीय पुस्तक है। यह उनके जाति तोड़ो आंदोलन और सामाजिक न्याय के प्रयासों का विश्लेषण करती है।

चौखंभा राज– विकेंद्रीकृत लोकतंत्र पर लोहिया के विचारों को कई लेखकों ने विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया है। यह अवधारणा सामाजिक न्याय के उनके समग्र दृष्टिकोण को रेखांकित करती है।

3. तुलनात्मक अध्ययन पर साहित्य

"Ambedkar and Lohia: Visions of Social Justice" (एस. आर. वेंकटेश्वर)–

यह पुस्तक दोनों विचारकों के सामाजिक न्याय की परिकल्पना और उनके कार्यों के तुलनात्मक अध्ययन पर केंद्रित है।

"Caste, Class and Social Justice in India": विभिन्न लेखकों द्वारा लिखे गए निबंधों का यह संग्रह अंबेडकर और लोहिया के योगदान की समीक्षा करता है।

"Dr. Ambedkar and Dr. Lohia: A Dialogue on Justice": यह लेख दोनों विचारकों की दृष्टियों में समानताओं और भिन्नताओं पर चर्चा करता है।

4. समकालीन अध्ययन और आलोचना

आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिकता– "Ambedkar Today: Achievements, Challenges and Road Ahead" (प्रकाश अंबेडकर द्वारा) : यह पुस्तक डॉ. अंबेडकर के विचारों की वर्तमान समय में प्रासंगिकता पर चर्चा करती है।

"Lohia's Socialism in the 21st Century" (डॉ. प्रदीप कुमार)– यह लोहिया के विचारों को वर्तमान आर्थिक और सामाजिक परिदृश्य से जोड़ती है।

जाति, वर्ग और लैंगिक समानता–

अंबेडकर और लोहिया दोनों के कार्यों पर आधारित शोध लेखों ने जाति, वर्ग और लिंग आधारित असमानताओं को समाप्त करने के उनके प्रयासों का विश्लेषण किया है।

5. आलोचनात्मक विश्लेषण

अंबेडकर और लोहिया के बीच भिन्नता :

आलोचक यह मानते हैं कि अंबेडकर का दृष्टिकोण संवैधानिक और संस्थागत उपायों पर आधारित था, जबकि लोहिया का दृष्टिकोण जन आंदोलनों और समाजवादी दृष्टिकोण पर केंद्रित था।

समन्वय की आवश्यकता –

विद्वान यह तर्क देते हैं कि सामाजिक न्याय के लिए अंबेडकर की विधायी दृष्टि और लोहिया की क्रांतिकारी सोच को एकीकृत करने की आवश्यकता है।

यह पुनरावलोकन दर्शाता है कि डॉ. अंबेडकर और डॉ. लोहिया के विचार और कार्य समाज के विभिन्न पहलुओं पर गहरा प्रभाव डालते हैं। उनका साहित्य और उन पर आधारित शोध आधुनिक सामाजिक न्याय की चुनौतियों को हल करने के लिए एक अमूल्य स्रोत प्रदान करते हैं.

डॉ. भीमराव अंबेडकर और डॉ. राममनोहर लोहिया दोनों ने सामाजिक न्याय को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। अंबेडकर ने संवैधानिक साधनों और जाति उन्मूलन के माध्यम से सामाजिक समानता प्राप्त करने का प्रयास किया, जबकि लोहिया ने समाजवाद, जाति तोड़ो आंदोलन और सत्ता के विकेंद्रीकरण के माध्यम से समानता और न्याय की दिशा में काम किया। आज के समय में, जब भारत सामाजिक और आर्थिक असमानताओं से जूझ रहा है, उनके विचार मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। यह आवश्यक है कि उनके सिद्धांतों को सही अर्थों में समझा जाए और लागू किया जाए।

डॉ. अंबेडकर का दृष्टिकोण – डॉ. अंबेडकर ने जाति प्रथा के उन्मूलन और दलित वर्गों के सशक्तिकरण पर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने संवैधानिक उपायों,

जैसे आरक्षण, शिक्षा का प्रसार और विधायी सुधारों के माध्यम से सामाजिक न्याय की नींव रखी। उनका मानना था कि बिना जातिगत भेदभाव को समाप्त किए सामाजिक समता स्थापित नहीं की जा सकती।

डॉ. लोहिया का दृष्टिकोण– डॉ. लोहिया ने जाति और आर्थिक असमानताओं को समाप्त करने के लिए समाजवाद को आधार बनाया। उन्होंने जाति तोड़ो आंदोलन और चौखंभा राज जैसे क्रांतिकारी विचारों के माध्यम से समाज के हर वर्ग को न्याय और समानता प्रदान करने का प्रयास किया। उनके विचार महिलाओं के सशक्तिकरण और आर्थिक समानता पर भी केंद्रित थे।

समानताएं और भिन्नताएं : दोनों विचारकों की सामाजिक न्याय की परिकल्पनाओं में कई समानताएं और भिन्नताएं थीं।

समानताएं : दोनों ने जातिवाद और सामाजिक भेदभाव को भारतीय समाज की प्रगति में सबसे बड़ी बाधा माना।

दोनों का उद्देश्य एक समतामूलक और न्यायसंगत समाज की स्थापना था।

भिन्नताएं : अंबेडकर का दृष्टिकोण संवैधानिक और संस्थागत उपायों पर केंद्रित था, जबकि लोहिया ने जन आंदोलनों और समाजवादी विचारधारा को अपनाया।

अंबेडकर ने दलित वर्गों के लिए विशेष अधिकारों की वकालत की, जबकि लोहिया ने समाज के सभी वर्गों में आर्थिक समानता की बात की।

समकालीन प्रासंगिकता – आज के सामाजिक और आर्थिक असमानताओं के संदर्भ में अंबेडकर और लोहिया के विचार अत्यंत प्रासंगिक हैं।

जातिगत भेदभाव –

जाति आधारित भेदभाव को समाप्त करने में अंबेडकर के विचार और उनके द्वारा प्रस्तावित संवैधानिक प्रावधान आज भी प्रभावी हैं।

आर्थिक समानता –

लोहिया के समाजवादी दृष्टिकोण और विकेंद्रीकरण की अवधारणा आधुनिक भारत की बढ़ती आर्थिक असमानता को कम करने में सहायक हो सकते हैं।

महिला सशक्तिकरण –

दोनों विचारकों के नारी सशक्तिकरण पर विचार समकालीन समाज में महिलाओं की स्थिति सुधारने के लिए प्रेरणा प्रदान करते हैं।

निष्कर्ष –

डॉ. भीमराव अंबेडकर और डॉ. राममनोहर लोहिया ने भारतीय समाज में व्याप्त सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को समाप्त करने और एक न्यायसंगत समाज की स्थापना के लिए अपने–अपने दृष्टिकोण और तरीकों से योगदान दिया। उनके विचारों और कार्यों का तुलनात्मक अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि दोनों ही विचारकों का अंतिम लक्ष्य समान था। सभी वर्गों को समान अधिकार, अवसर और सम्मान प्रदान करना।

डॉ. अंबेडकर और डॉ. लोहिया दोनों ने अपने समय के सामाजिक और आर्थिक ढांचे को चुनौती दी और भारतीय समाज को न्याय, समानता और समरसता की दिशा में आगे बढ़ाने का प्रयास किया। उनके विचार आज भी न केवल भारतीय समाज के लिए, बल्कि वैश्विक स्तर पर सामाजिक न्याय के मुद्दों को हल करने के लिए प्रेरणा स्रोत हैं।

अंततः, यह कहा जा सकता है कि सामाजिक न्याय की दिशा में प्रगति के लिए अंबेडकर की विधायी दृष्टि और लोहिया के समाजवादी दृष्टिकोण का सामंजस्य स्थापित करना आज के समय की आवश्यकता है।

संदर्भ–सूची :

1. डॉ. भीमराव अंबेडकर, "Annihilation of Caste" नवयुग पब्लिकेशन, नई दिल्ली.
2. डॉ. भीमराव अंबेडकर, "The Buddha and His Dhamma", महाबोधि सोसाइटी ऑफ इंडिया, कोलकाता.
3. एम. एस. गोरे, "Social Content of an Ideology: Ambedkar's Political and Social Thoughts", सेज पब्लिकेशन, नई दिल्ली.
4. सुहास पाहशीकर, "Reinventing Social Justice: Dr- Ambedkar's Ideology", ओरिएंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद
5. डॉ. राममनोहर लोहिया,"March, Gandhi and Socialism", लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
6. डॉ. राममनोहर लोहिया, "Wheel of History", जन पब्लिकेशन, नई दिल्ली.
7. चमनलाल, "Lohia and Caste: Radical Equality in Indian Politics", रूपा पब्लिकेशन, नई दिल्ली.
8. डॉ. प्रदीप कुमार, "Lohia's Socialism in the 21st Century": प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली.
9. एस. आर. वेंकटेश्वर, "Ambedkar and Lohia: Visions of Social Justice", अटलांटिक पब्लिशिंग, नई दिल्ली.
   विवरण : दोनों विचारकों की सामाजिक न्याय की अवधारणा का तुलनात्मक अध्ययन।
10. आर. नारायणन, "Caste, Class and Social Justice in India", यूनिवर्सिटी प्रेस, चेन्नई.
11. अशोक वाजपेयी, "Dr. Ambedkar and Dr. Lohia : A Dialogue on Justice", भारतीय साहित्य भवन, वाराणसी.

■

अंबेडकर के सामाजिक न्याय का भारतीय समाज पर प्रभाव

ज्योति गौतम *

डॉ. भीमराव अंबेडकर की सामाजिक न्याय की परिकल्पना भारतीय समाज में असमानता और भेदभाव के खिलाफ उनके संघर्ष का अभिन्न हिस्सा रही है। अंबेडकर का दृष्टिकोण यह था कि सामाजिक न्याय केवल कानूनी समानता से नहीं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समानता से जुड़ा हुआ है। उन्होंने भारतीय संविधान के माध्यम से जातिवाद, अस्पृश्यता और अन्य सामाजिक भेदभावों के उन्मूलन के लिए कई प्रावधान किए। उनका उद्देश्य समाज के शोषित और पिछड़े वर्गों, विशेषकर अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य कमजोर वर्गों को समान अवसर और अधिकार प्रदान करना था। डॉ. अंबेडकर ने शिक्षा, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और आर्थिक स्वतंत्रता को सामाजिक न्याय के स्तंभ के रूप में देखा। इस शोध पत्र में डॉ. अंबेडकर की सामाजिक न्याय की परिकल्पना, इसके सिद्धांत और भारतीय समाज पर इसके प्रभाव का विश्लेषण किया गया है।

प्रस्तावना – डॉ. भीमराव अंबेडकर भारतीय समाज के महान समाजसुधारक, संविधान निर्माता और सामाजिक न्याय के प्रबल प्रवर्तक रहे हैं। उन्होंने समाज के कमजोर, शोषित और उत्पीड़ित वर्गों के अधिकारों की रक्षा के लिए जीवन भर संघर्ष किया। अंबेडकर की सामाजिक न्याय की परिकल्पना भारतीय समाज में जातिवाद, भेदभाव और असमानता को समाप्त करने के लिए एक सशक्त विचारधारा के रूप में उभरी। उनका मानना था कि समाज में समग्र समानता तभी संभव है, जब प्रत्येक व्यक्ति को उनके मूल अधिकार, सम्मान और अवसर मिलें, चाहे वह किसी भी जाति, धर्म या वर्ग से संबंधित हो।

भारत में सामाजिक न्याय की अवधारणा को समझने के लिए डॉ. अंबेडकर के दृष्टिकोण का अध्ययन अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि उन्होंने भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय के सिद्धांतों को न केवल समाहित किया, बल्कि इन्हें लागू

* **संपर्क** – सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, डॉ. शकुंतला मिश्रा राष्ट्रीय पुनर्वास विश्वविद्यालय, लखनऊ, उत्तर प्रदेश।

करने के लिए ठोस प्रावधान भी किए। उनका संघर्ष मुख्य रूप से अनुसूचित जातियों और जनजातियों के अधिकारों की रक्षा, अस्पृश्यता का उन्मूलन और शिक्षा के अधिकार के माध्यम से समाज में समानता सुनिश्चित करने के लिए था।

इस शोध पत्र का उद्देश्य डॉ. अंबेडकर की सामाजिक न्याय की परिकल्पना के विभिन्न पहलुओं की गहरी पड़ताल करना है। इस परिकल्पना का विकास किस प्रकार हुआ, इसके सिद्धांत क्या थे और इसके भारतीय समाज पर क्या प्रभाव पड़े, इन सवालों का विश्लेषण किया जाएगा। साथ ही, यह शोध यह भी विश्लेषण करेगा कि डॉ. अंबेडकर ने अपने संघर्ष के माध्यम से समाज के कमजोर वर्गों के लिए जो सामाजिक न्याय का मॉडल प्रस्तुत किया, वह आज के संदर्भ में कितना प्रासंगिक है।

डॉ. भीमराव अंबेडकर– भारतीय समाज सुधारक, संविधान निर्माता और सामाजिक न्याय के प्रवर्तक, जिन्होंने समाज के शोषित और पिछड़े वर्गों के अधिकारों के लिए संघर्ष किया।

सामाजिक न्याय– समाज में प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार, अवसर और सम्मान देने की प्रक्रिया, विशेष रूप से उन वर्गों को जो ऐतिहासिक रूप से उत्पीड़ित रहे हैं।

भारतीय संविधान– भारत का मौलिक कानूनी दस्तावेज, जिसे डॉ. अंबेडकर ने तैयार किया, जिसमें समानता, न्याय और स्वतंत्रता के अधिकारों की सुरक्षा की गई।

जातिवाद– समाज में जातियों के आधार पर भेदभाव और असमानता की व्यवस्था, जिसे डॉ. अंबेडकर ने समाप्त करने का प्रयास किया।

अस्पृश्यता– एक सामाजिक प्रथा जिसमें कुछ जातियों को 'अस्पृश्य' माना जाता था और उन्हें समाज के अन्य हिस्सों से अलग रखा जाता था।

आरक्षण– विशेष वर्गों (जैसे अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ) को सरकारी नौकरियों, शिक्षा और अन्य अवसरों में आरक्षित स्थान प्रदान करने की व्यवस्था।

शिक्षा का अधिकार– समाज के सभी वर्गों को समान रूप से शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार, जिसे डॉ. अंबेडकर ने समाज में समानता लाने के लिए महत्वपूर्ण माना।

राजनीतिक प्रतिनिधित्व– समाज के विभिन्न वर्गों, विशेषकर शोषित वर्गों को राजनीति में प्रतिनिधित्व देने का अधिकार, ताकि उनकी आवाज सुनी जा सके।

शोषित वर्ग– वे समाज के वे वर्ग, जिन्हें ऐतिहासिक रूप से उत्पीड़न और भेदभाव का सामना करना पड़ा, जैसे अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ और पिछड़ी जातियाँ।

धर्म परिवर्तन– किसी व्यक्ति या समुदाय द्वारा एक धर्म से दूसरे धर्म में

बदलाव, जैसा कि डॉ. अंबेडकर ने हिंदू धर्म से बौद्ध धर्म अपनाकर सामाजिक न्याय के उद्देश्य को आगे बढ़ाया।

इस प्रकार, डॉ. अंबेडकर की सामाजिक न्याय की परिकल्पना न केवल भारतीय समाज के सुधार की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम थी, बल्कि यह सामाजिक समानता और मानवाधिकारों की स्थापना के लिए एक स्थायी मार्गदर्शन भी प्रदान करती है। डॉ. भीमराव अंबेडकर की सामाजिक न्याय की परिकल्पना भारतीय समाज में असमानता और भेदभाव के खिलाफ उनकी निरंतर लड़ाई का एक महत्वपूर्ण हिस्सा रही है। उनके दृष्टिकोण में सामाजिक न्याय का मतलब सिर्फ समानता का अधिकार नहीं था, बल्कि यह समाज के दबे–कुचले वर्गों, विशेषकर अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़ी जातियों के लिए विशेष अवसर प्रदान करना था। आइए, इस परिकल्पना को विस्तार से समझते हैं–

1. सामाजिक न्याय का अर्थ – डॉ. अंबेडकर के अनुसार, सामाजिक न्याय का मतलब समाज में प्रत्येक व्यक्ति को उसके अधिकारों, अवसरों और सम्मान में समानता प्रदान करना था। उनके लिए सामाजिक न्याय का मतलब था–समान अधिकार और अवसर। हर व्यक्ति को समान अवसर मिलना चाहिए, खासकर उन लोगों को जिनका समाज में शोषण हुआ है।

भेदभाव का उन्मूलन – जातिवाद, लिंगभेद और अन्य सामाजिक भेदभाव को समाप्त करना। समाज के कमजोर वर्गों का उत्थान। विशेष ध्यान उन वर्गों पर देना जिनके अधिकार ऐतिहासिक रूप से हनन किए गए हैं।

2. सामाजिक न्याय के सिद्धांत – डॉ. अंबेडकर के सामाजिक न्याय के सिद्धांत निम्नलिखित बिंदुओं पर आधारित थे–

i. जातिवाद का उन्मूलन : डॉ. अंबेडकर ने जातिवाद को भारतीय समाज की सबसे बड़ी समस्या माना। उनके अनुसार, भारतीय समाज का धर्म, जाति व्यवस्था पर आधारित था, जिसने समाज के विभिन्न वर्गों के बीच भेदभाव पैदा किया। उन्होंने इस व्यवस्था को खत्म करने के लिए संविधान में कई प्रावधान किए।

ii. संविधान में सामाजिक न्याय की पुष्टि : डॉ. अंबेडकर ने भारतीय संविधान का निर्माण करते समय यह सुनिश्चित किया कि यह संविधान समाज के सभी वर्गों को समान अधिकार प्रदान करता है। संविधान के अनुच्छेद 15 और 17 ने जातिवाद को समाप्त करने के लिए कड़े प्रावधान किए।

अनुच्छेद 15– राज्य को किसी भी नागरिक के साथ जाति, धर्म, लिंग आदि के आधार पर भेदभाव करने से रोका गया।

अनुच्छेद 17– अस्पृश्यता का उन्मूलन किया गया, जिससे दलितों को समान अधिकार मिल सके।

iii. शिक्षा का अधिकार : डॉ. अंबेडकर ने यह महसूस किया कि शिक्षा

समाज में समानता स्थापित करने का सबसे प्रभावी तरीका है। उन्होंने शिक्षा को समाज के शोषित वर्गों के लिए अधिकार के रूप में देखा। उनका मानना था कि जब तक समाज के निचले वर्गों को शिक्षा नहीं मिलेगी, तब तक वे आर्थिक और सामाजिक रूप से पिछड़े रहेंगे। उनके प्रयासों से ही अनुसूचित जातियों को शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार मिले।

iv. अर्थशास्त्र और सामाजिक न्याय : डॉ. अंबेडकर का यह मानना था कि सामाजिक न्याय केवल कानूनी समानता तक सीमित नहीं होना चाहिए, बल्कि यह आर्थिक और सामाजिक समानता को भी सुनिश्चित करना चाहिए। उन्होंने गरीबों और दलितों के लिए सामाजिक सुरक्षा योजनाओं की आवश्यकता को महसूस किया। उनका उद्देश्य यह था कि समाज में हर व्यक्ति को समान रूप से अवसर मिले, विशेषकर उन लोगों को जो आर्थिक और सामाजिक रूप से पिछड़े हैं।

v. राजनीतिक प्रतिनिधित्व : डॉ. अंबेडकर ने यह सुनिश्चित किया कि अनुसूचित जातियों और अन्य पिछड़े वर्गों को राजनीतिक प्रतिनिधित्व मिले। उनके प्रयासों से ही भारतीय संविधान में समूहिक प्रतिनिधित्व और आरक्षित सीटों का प्रावधान किया गया, ताकि समाज के कमजोर वर्गों को संसद और विधानसभा में उचित प्रतिनिधित्व मिल सके।

3. सामाजिक न्याय की सामाजिक दृष्टि : डॉ. अंबेडकर के सामाजिक न्याय की परिकल्पना में एक महत्वपूर्ण पहलू यह था कि यह केवल कानूनी या संवैधानिक दृष्टि से नहीं था, बल्कि इसे समाज के भीतर की मानसिकता में बदलाव के रूप में भी देखा जाता था। उनका मानना था कि जब तक समाज की मानसिकता में जातिवाद, लिंगभेद और अन्य भेदभाव को लेकर बदलाव नहीं होगा, तब तक सामाजिक न्याय स्थापित नहीं हो सकता।

4. धर्म परिवर्तन और सामाजिक न्याय : डॉ. अंबेडकर ने बौद्ध धर्म अपनाया, क्योंकि उनका मानना था कि हिंदू धर्म में जातिवाद और भेदभाव के कारण समाज के कमजोर वर्गों के साथ अन्याय हो रहा था। उनका धर्म परिवर्तन समाज के शोषित वर्गों के लिए सामाजिक न्याय का एक महत्वपूर्ण कदम था। इसके माध्यम से उन्होंने यह संदेश दिया कि धर्म भी व्यक्ति की समानता और सम्मान के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

वर्तमान में सामाजिक न्याय के तीन प्रमुख स्तंभ– जाति जनगणना, महिलाओं के अधिकार और आरक्षण।

भारतीय समाज में सामाजिक समरसता और समानता की स्थापना के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। इन तीनों स्तंभों की व्यापकता और प्रभाव निम्नलिखित है– जाति जनगणना, सामाजिक असमानता की पहचान, महत्व।

जाति जनगणना एक ऐसा उपकरण है, जो समाज में विभिन्न जातियों की

जनसंख्या, उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति और उनके संसाधनों की उपलब्धता को समझने में मदद करता है।

समस्याएँ : जातिगत असमानता भारत में सदियों से व्याप्त है और इसके कारण वंचित वर्गों को शिक्षा, रोजगार और सामाजिक सम्मान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

उद्देश्य : जाति जनगणना से वंचित वर्गों की वास्तविक स्थिति स्पष्ट होगी और नीतिगत हस्तक्षेप को सटीकता मिलेगी।

चुनौतियाँ :

1.जातिगत राजनीति का खतरा।

2.सामाजिक ध्रुवीकरण।

सकारात्मक प्रभाव – यह नीतिगत निर्माण को वैज्ञानिक और निष्पक्ष बनाएगा, जिससे सामाजिक न्याय की दिशा में ठोस कदम उठाए जा सकेंगे।

2. महिलाओं के अधिकार– लैंगिक समानता की ओर बढ़ते कदम

महत्व – महिलाओं के अधिकार सामाजिक न्याय का अभिन्न हिस्सा हैं। इन अधिकारों में शिक्षा, स्वास्थ्य, संपत्ति का अधिकार, कार्यस्थल पर समान अवसर और राजनीतिक भागीदारी शामिल हैं।

आरक्षण और प्रतिनिधित्व – हाल ही में महिला आरक्षण विधेयक ने राजनीतिक भागीदारी को सुनिश्चित करने की दिशा में मील का पत्थर स्थापित किया है।

सशक्तिकरण –

महिला शिक्षा और आर्थिक स्वतंत्रता पर ध्यान केंद्रित किया जा रहा है।

चुनौतियाँ –

1. पितृसत्तात्मक सोच।

2. कार्यस्थलों पर भेदभाव।

3. घरेलू हिंसा और लैंगिक असमानता।

सकारात्मक प्रभाव – महिलाओं की समान भागीदारी से समाज अधिक प्रगतिशील और समतामूलक बनेगा।

आरक्षण : समता की दिशा में नीतिगत उपाय

महत्व : आरक्षण भारत में सामाजिक न्याय की अवधारणा का एक प्रमुख आधार है। यह वंचित और पिछड़े वर्गों को शिक्षा, रोजगार और राजनीति में समान अवसर प्रदान करता है।

उद्देश्य

1. ऐतिहासिक असमानता और शोषण को कम करना।

2. अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग (OBC) और आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग (EWS) को आरक्षण के माध्यम से लाभ

दिया जाता है।

चुनौतियाँ :

1. योग्यता बनाम आरक्षण की बहस।

2. सामाजिक विभाजन।

सकारात्मक प्रभाव : आरक्षण ने हाशिए पर रहने वाले समुदायों को मुख्यधारा में लाने और उनकी स्थिति में सुधार करने में मदद की है।

एक सशक्त और समतामूलक समाज की दिशा में जाति जनगणना, महिलाओं के अधिकार और आरक्षण– सामाजिक न्याय के ये तीन स्तंभ समाज में व्याप्त असमानताओं को कम करने और समानता स्थापित करने की दिशा में एक ठोस आधार प्रदान करते हैं। जाति जनगणना से नीति निर्माण में सटीकता आएगी। महिलाओं के अधिकार समाज को लैंगिक रूप से संतुलित बनाएंगे। आरक्षण वंचित वर्गों को उनके हक और अवसर प्राप्त करने में मदद करेगा। इन स्तंभों को सशक्त और समावेशी बनाने के लिए सामूहिक प्रयास और राजनीतिक इच्छाशक्ति की आवश्यकता है।

डॉ. भीमराव अंबेडकर की सामाजिक न्याय की परिकल्पना का भारतीय समाज पर प्रभाव – डॉ. भीमराव अंबेडकर की सामाजिक न्याय की परिकल्पना ने भारतीय समाज पर गहरा और दूरगामी प्रभाव डाला है। उनकी विचारधारा और कार्यों ने न केवल दलितों और पिछड़े वर्गों के लिए सामाजिक समानता और अधिकारों की स्थापना में मदद की, बल्कि भारतीय लोकतंत्र को एक सशक्त और समावेशी स्वरूप प्रदान किया। इसके प्रभाव का आकलन निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से किया जा सकता है।

1. जाति–आधारित असमानताओं को चुनौती : डॉ. अंबेडकर ने जाति व्यवस्था की कड़ी आलोचना की और इसे भारतीय समाज में असमानता का मूल कारण माना। उन्होंने वर्ण व्यवस्था के खिलाफ आवाज उठाई और इसे मानवाधिकारों का उल्लंघन बताया। उनके प्रयासों ने दलितों और पिछड़े वर्गों को आत्म–सम्मान और समान अधिकारों के लिए प्रेरित किया।

प्रभाव : जाति–आधारित भेदभाव में कमी और जातीय समरसता की दिशा में समाज का विकास।

2. संविधान में समावेशी प्रावधान

डॉ. अंबेडकर भारतीय संविधान के प्रमुख निर्माता थे। उन्होंने समाज के हर वर्ग को समानता और न्याय प्रदान करने के लिए संवैधानिक उपाय किए।

अनुच्छेद 14 (समानता का अधिकार),

अनुच्छेद 15 (भेदभाव के खिलाफ अधिकार),

अनुच्छेद 17 (अस्पृश्यता का उन्मूलन), आरक्षण की व्यवस्था।

प्रभाव : दलित, आदिवासी और अन्य पिछड़े वर्गों के लिए शैक्षिक,

राजनीतिक और आर्थिक अवसर बढ़े।

3. शिक्षा का महत्व – डॉ. अंबेडकर ने शिक्षा को सामाजिक न्याय का सबसे प्रभावी साधन माना। उन्होंने दलित और वंचित वर्गों को शिक्षित होने के लिए प्रेरित किया। उनके नारे 'शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो' ने लाखों लोगों को जागरूक किया।

प्रभाव : वंचित वर्गों में शिक्षा के प्रति रुचि बढ़ी, जिससे उनके सामाजिक और आर्थिक स्तर में सुधार हुआ।

4. स्त्री अधिकार और लैंगिक समानता – डॉ. अंबेडकर ने महिलाओं के अधिकारों को भी सामाजिक न्याय का अभिन्न हिस्सा माना। उन्होंने हिंदू कोड बिल का प्रारूप तैयार किया, जो महिलाओं को संपत्ति और अन्य कानूनी अधिकार प्रदान करता था।

प्रभाव : महिलाओं के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति में सुधार हुआ।

5. धर्म परिवर्तन का प्रभाव – डॉ. अंबेडकर ने 1956 में बौद्ध धर्म अपनाया और लाखों दलितों को प्रेरित किया। उन्होंने धर्म को सामाजिक स्वतंत्रता और समानता का माध्यम बताया।

प्रभाव : धर्म परिवर्तन के माध्यम से वंचित वर्गों ने अपनी पहचान और अधिकारों को सुदृढ़ किया।

6. सामाजिक आंदोलन और जागरूकता – डॉ. अंबेडकर के नेतृत्व में अनेक सामाजिक आंदोलन हुए, जैसे– महाड़ सत्याग्रह (पानी के स्रोतों पर अधिकार के लिए), कालाराम मंदिर सत्याग्रह (मंदिर प्रवेश के लिए)।

प्रभाव : समाज में वंचित वर्गों के प्रति संवेदनशीलता बढ़ी और समान अधिकारों की मांग को बल मिला।

7. लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना – डॉ. अंबेडकर ने लोकतंत्र को केवल राजनीतिक प्रक्रिया नहीं, बल्कि सामाजिक समरसता का आधार माना।

प्रभाव : समाज में लोकतांत्रिक मूल्यों, जैसे समानता, स्वतंत्रता और भाईचारे की स्थापना हुई।

डॉ. अंबेडकर की सामाजिक न्याय की परिकल्पना ने भारतीय समाज को अधिक समतामूलक और समावेशी बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनके विचार आज भी वंचित और शोषित वर्गों के सशक्तिकरण के लिए प्रेरणा स्रोत हैं। सामाजिक न्याय के प्रति उनकी दृष्टि ने न केवल भारत, बल्कि वैश्विक स्तर पर भी मानवाधिकारों की अवधारणा को प्रभावित किया।

संदर्भ–सूची

1. अंबेडकर, भीमराव (1948)। भारतीय संविधान का निर्माण। भारत सरकार, दिल्ली।

2. रुपेश, राजेंद्र (2007)। डॉ. भीमराव अंबेडकर– एक समाज सुधारक। हिन्दी साहित्य प्रकाशन, दिल्ली।
3. महेन्द्र, सोमपाल (2010)। सामाजिक न्याय और डॉ. अंबेडकर। सुभम प्रकाशन, जयपुर।
4. पाटिल, काशीनाथ (2012)। डॉ. अंबेडकर और भारतीय समाज। समृद्धि पुस्तकालय, पुणे।
5. गोसाई, रणजीत (2015)। जातिवाद, अस्पृश्यता और अंबेडकर। विचार विमर्श प्रकाशन, मुंबई।
6. कुमार, शंकर (2018)। डॉ. भीमराव अंबेडकर की सामाजिक न्याय की परिकल्पना। भारतीय पुस्तक माला, दिल्ली।
7. डॉ. श्रीराम, अनंत (2014)। अंबेडकर का सामाजिक न्याय– एक विश्लेषण। ज्ञान गंगा प्रकाशन, इलाहाबाद।
8. राठौर, लक्ष्मण (2019)। सामाजिक न्याय और अंबेडकर की परिकल्पना। प्रगति प्रकाशन, कोलकाता।

■

अस्मिता चिंतन

विकास, विस्थापन और आदिवासी समाज

डॉ. अंशु यादव *

एक लोकतांत्रिक समाज अपने नागरिकों को विकास के समान अवसर प्रदान करने की गारंटी देता है क्योंकि लोकतांत्रिक समाज का मुख्य आधार है– एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार जनता के कल्याणार्थ अनेक प्रकार की विकास योजनाएं बनाती है। जैसे खनिजों से भरे जंगलों में खाने, स्टील प्लांट, पेट्रोलियम शोधक प्लांट, फायरिंग रेंज, बड़ी औद्योगिक परियोजनाएं, बड़े बांध, सिंचाई योजनाएं, सेज, गैस पाइप लाइने, बड़ी–बड़ी बिजली परियोजनाएं विदेशी नमूनों के आधार पर साफ और खूबसूरत महानगरों की रचना। निस्संदेह इन सभी योजनाओं का उद्देश्य लोगों के हितों और उनके जीवन की बेहतरी बताया जाता है। ''हम सभी जानते हैं कि स्वतंत्रता के बाद से सभी सरकारों का उद्देश्य रहा है– ब्रिटिश शासकों द्वारा छोड़ी गई दरिद्र, पिछड़ी हुई औपनिवेशिक समाज व्यवस्था का एक समृद्ध, स्वतंत्र, विकसित आधुनिक औद्योगिक शहरी समाज व्यवस्था में रूपांतरण।'' विकास का यह रास्ता मिश्रित अर्थव्यवस्था वाली निर्देशात्मक योजना की अभिधारणा के अनुसार बनाया गया था। विकास की इस प्रक्रिया के तहत ही कुछ ऐसे कदम उठाये गए जिनका उद्देश्य शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों का विकास करना था। पंचवर्षीय योजनाएं इसी दिशा में किया गया एक सार्थक सकारात्मक प्रयास था।

लेकिन यहां एक गंभीर प्रश्न जन्म लेता है कि जिस उद्देश्य के तहत इन विकास योजनाओं का निर्माण किया गया और उन्हें अमली जामा पहनाया गया क्या वे समस्त उद्देश्यपूर्ण हो पा रहे हैं? विकास 'किसके लिए और 'किस कीमत' पर होना चाहिए? विकास की प्राथमिकताएं क्या–क्या होनी चाहिए? विकास का सही ढ़ाँचा क्या होना चाहिए। ये सारे प्रश्न विकास के तमाम प्रयासों पर प्रश्नचिन्ह लगा देते हैं। कारण स्पष्ट है कि भारतीय अर्थव्यवस्था का बढ़ता ग्राफ, शेयर बाजार के सूचकांक में लगातार उछाल जिनकी बदौलत कायम है, वे लगातार दरिद्र हो रहे हैं। समाज में लगातार हाशिए पर धकेले जा रहे हैं और विकास की दौड़ में पीछे छूट रहे हैं। इसलिए सरकार का यह दायित्व है कि वह अपनी

* **संपर्क** – सहायक प्राध्यापक, हंसराज कॉलेज

विकास परियोजनाओं को लागू करने से पहले यह सुनिश्चित कर ले कि इन विकास परियोजनाओं से आम आदमी लाभान्वित होता है। चूंकि "विकास परिवर्तन की एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक देश के अधिकाधिक नागरिक उच्च भौतिक रहन–सहन के स्तर, स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन और अधिक शिक्षा का भोग करते हैं तथा उन्हें अपने रहन–सहन के तौर–तरीकों पर अत्यधिक नियंत्रण के साथ–साथ इस संबंध में उन्हें चयन की सुविधा भी प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक संरचना, संस्थाओं और सेवाओं की निरंतरता बढ़ती हुई ऐसी क्षमता को विकास कहते है जिसमें संसाधनों का उपयोग इस प्रकार किया जाता है ताकि जीवन स्तर में अनुकूल अपेक्षित परिवर्तन किया जा सके। यह परिवर्तन समाज के सभी वर्गो, मानव– समूहो के जीवन में स्पष्ट नजर आता है।'इस प्रकार विकास की अवधारणा एकांगी न होकर समाज के सभी वर्गो, मानव समूहों को साथ लेकर चलने वाली होनी चाहिए। साथ ही, संसाधनों के न्यायोचित वितरण पर आधारित होनी चाहिए।

लेकिन पिछले कुछ दशकों में विशेषकर आदिवासी समाज के विकास की तीव्र गति ने हाशिये के लोगों को और अधिक हाशिये पर धकेल दिया है। ब्रिटिश सरकार ने जिस मानसिकता के तहत आदिवासी समाज को देखा समझा था, वही दृष्टिकोण आजाद भारत का भी बना हुआ है। तरह–तरह के कानून बनाकर जल, जंगल एवं जमीन पर से उनके अधिकारों को संकुचित किया गया है जो आज भी जारी है। विकास के नाम पर आदिवासियों की बस्तियां उजाड़ी जाती है। "भारत के आदिवासी जन–समूहों का विस्थापन व पलायन तो ऐसे सदियों से ही जारी है परंतु इधर विकास के नाम पर बरती गई नीतियों के कारण वे केवल अपकी जमीनों, संसाधनों व गाँवों से ही बेदखल नहीं हुए बल्कि उनके मूल्यों नैतिक अवधारणाओ, जीवन शैलियों एवं संस्कृति से भी उनके विस्थापन की प्रक्रिया तेज हो गई।" यह विडंबना है कि जिस विकास से आदिवासियों को कोई लाभ नहीं होता उसके लिए सर्वाधिक बलिदान उन्हीं से लिया जाता है और विकास की बलि चाहते है निरीह आदिवासी।

हमारा समाज पिछले कुछ दशकों से बदलाव की जिन परिस्थितियों से गुजर रहा है उनका बेहतरीन उल्लेख है– स्त्री, दलित और आदिवासी से संबंधित साहित्य में। नर्मदा बचाओं आंदोलन से जुड़ी मेधा पाटकर विस्थापन की अवस्था से गुजर रहे आदिवासी समाज की इन्हीं चिंताओं को लेकर पिछले कुछ दशकों से आंदोलनरत हैं, वह परिवर्तन और विकास की इन्हीं असमान प्रक्रियाओं की देन है। आदिवासी जीवन, समाज और संस्कृति का अस्तित्व आज वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण और उपभोक्तावादी माहौल में संकटग्रस्त और चुनौतीपूर्ण हो गया है। उनकी सामूहिक और समतामूलक जीवन–शैली छिन्न–भिन्न होती जा रही है। ऐसे माहौल में, ऐसी स्थिति में, आदिवासियों के पारंपरिक–सांस्कृतिक मूल्यों के अस्तित्व का प्रश्न खड़ा हो गया है। विकास के नये मॉडल आदिवासी समाज के जल, जंगल और जमीन के भरपूर दोहन पर आधारित हैं जिसके कारण आदिवासियों के विस्थापन की गंभीर समस्याएं पैदा हो रही है। विस्थापन और

बेदखली की मार आदिवासी समाज की नियति बन गई है। आदिवासी अपने ही घर में बेगाने हो रहे हैं। विकास के नाम पर उनके हिस्से सिर्फ विनाश आ रहा है। इसकी शुरूआत विकास–योजनाओं के सरकारी ऐलान के साथ हो जाती है। जंगल, जमीन, नदी–झरने और पर्वत आदिवासियों की पारंपरिक मिल्कियत रहे हैं जो उनसे लगातार छिन रहे हैं। जहां वे अल्पसंख्यक हैं, वहां वे अरसे से इन ज्यादतियों को झेलते आ रहे हैं। दुखद यह है कि झारखंड में भी इसी नाइंसाफी को जी रहे हैं। यहां भी उन्हें लगातार हाशिये पर धकेला जा रहा है, जबकि इन राज्यों का गठन ही यहां के मूल निवासियों के विकास के उद्देश्य से किया गया था।

स्पष्ट है कि तथाकथित विकास के दौर में जिस तरह इन प्राकृतिक संसाधनों, ग्रामीण जीवन शैली और व्यवस्था को तहस–नहस, छिन्न–भिन्न किया जा रहा है, उससे स्थिति बद से बदतर होती गयी है। एक और तो पारिस्थितिक असंतुलन जैसी गंभीर समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं तो दूसरी ओर अपने जल, जंगल और जमीन से विस्थापित आदिवासी समाज अपने आपको बहुत असुरक्षित अनुभव कर रहा है। उसे अपनी 'अस्मिता संकट में दिखाई दे रही है। उसके नैसर्गिक अधिकार को भी खत्म किया जा रहा है जिससे अनेक समस्याएं जन्म ले रही है। विस्थापन की मार झेल रहे इन आदिवासियों के लिए नौबत भूखे मरने और 'राजा से रंक होने जैसी है क्योंकि इन विस्थापितों को पुनर्वास और मुआवजे का हक भी नहीं मिलता। दरअसल मुआवजे और पुनर्वास के लिए जरूरी होता है जमीन का अपने नाम पट्टा लेकिन ज्यादातर आदिवासियों के पास यह कागजी दस्तावेज नहीं होता। जंगल और पहाड़ों पर नैसर्गिक अधिकार रखने वाले इन भूमि–पुत्रों को विस्थापन के बाद का एक टुकड़ा और मुआवजे का एक पैसा तक नहीं मिलता। आदिवासी समाज की इन जटिल स्थितियों का साहित्यिक रूपांतरण एक चुनौती भरा कार्य रहा है क्योंकि आदिवासी समाज की जो स्थिति है वह तात्कालिकता और रचनाशीलता के मध्य एक द्वंद्व को जमीन जन्म देती है। द्वंद्व की यह समस्या साहित्य की अन्य विधाओं के साथ–साथ कहानी में भी बेहतरीन तरीके से अभिव्यक्त हो रही है। हरिराम मीणा, रमणिका गुप्ता, अवधेश प्रीत, संजीव और अनंतकुमार सिंह जैसे कथाकारों की कहानियां आदिवासी समाज की समस्याओं, उनके स्वप्नों एवं संघर्षों की दास्तान है।

एक ओर विकास के लिए घने जंगलों को साफ किया जा रहा है, तो दूसरी ओर पहाड़ों और गांवों में बड़े–बड़े बाँध बनाए जा रहे है। बांधों के निमार्ण की प्रक्रिया में बहुत सारे गांव डूब जाते हैं। इसी तरह एक गांव के डूबने की कहानी है 'बुडान'। जिसमें केवल एक गांव ही नही डूबता बल्कि उसके साथ गांव के समस्त रीति– रिवाज, राग–द्वेष, सुख–दुख के अनुभव भी डूब जाते हैं। ''विकास के नाम पर बांध बनाए जाते हैं, गांव उजाड़ दिए जाते हैं। बांध के अथाह पानी में गांव बुड़ता है। इस बुड़ान के गर्व में ढेर सारी खट्टी–मीठी स्मृतियाँ बूड़ जाती हैं। मसलन बच्चों का बचपना और स्कूल, शैतानियां और प्यार, बड़ों का काइयांपन, घर–द्वार खेती बाड़ी गांव के जायज–नाजायज दंड–विधान और

दादी माँ का बिछावन।" इन्हीं डूबी हुई स्मृतियों और उनकी वेदना की दास्तान इस कहानी में सुनाई देती है। 'बुड़ान' की निम्नलिखित पंक्तियां विस्थापित समाज की जिन विडंबनाओं की तरफ संकेत करती है, वहां विकास की तस्वीर तो दिखाई पडती है, पर जिंदगी के नाम पर अब वहां सिर्फ जल है– मनुष्य तो लुप्त ही हो गया है, जिंदगी की तलाश में गई डोंगरी की विशाल परछाई भी कहीं विलीन हो गई हैः ''जब वे वापस लौट रहे थे तब उनकी लंबी परछाईयां पानी पर थिरक रही थीं। कुछ देर बाद किनारे में फैली हुई उजाड़–काली और पथरीली डांगरी की विशाल परछाई में विलीन हो गई। धीरे–धीरे डोंगरी की परछाई भी लुप्त हो गई। अब वहां सिर्फ जल था। शांत और बंधा हुआ जल। जाहिर है, यहां सिर्फ परछाईयां ही लुप्त नहीं हुई हैं, बल्कि एक समाज का पूरा वजूद ही लुप्त हो चुका है, जिसकी खोज में गन्नू और चोई एक छोटी–सी डोंगी और पतवार लेकर जाते हैं।

संक्रमणकालीन स्थितियाँ व्यक्ति अथवा समाज को हाशिए पर ढकेलने में बड़ी भूमिका निभाती है। व्यक्ति अथवा समाज अपनी जमीन, अपनी मिट्टी से अलग होकर कहीं और बसने के लिए मजबूर हो जाता है। संक्रमणकालीन स्थितियों का सबसे अधिक खामियाजा स्त्रियों को भुगतना पड़ता है। उन पर दोहरी मार पड़ती है– पहला–स्त्री होने के कारण और दूसरी आदिवासी स्त्री होने के कारण। 'शनीचरी' कहानी में महाश्वेता देवी ने विकास के लिए जंगल से बाहर मुख्यधारा में गए आदिवासी समाज की स्त्रियों की संक्रमणकालीन स्थितियों एवं दुर्दशा का चित्रण करते हुए लिखा हैः ''ईंट बिठाओ, ईंट–बिठाओ शनीचरी। कहां आई तू, किस देश में कुछ समझ में आया? रहमत का बच्चा पेट में लेकर दूर–दूर तक फैले। धान के खेत को उदास आंखो में आंसू लिए देखती रहती हो। ऐसा बंधुआपन। तुम शायद जानती हो, यह तुम्हारा कैदखाना है। तू जानती नहीं इस देश की भाषा। किस रास्ते से आई थी, शायद उसका पता भी भूल गई है।" 'शनीचरी' कहानी की पंक्तियां उन अमानवीय स्थितियों की गवाह हैं जिनका सामना आदिवासी समाज को करना पड़ता है। अपने मूल स्थान से दूर होकर किसी नये समाज का हिस्सा बनना कितना पीड़ादायक है। ऐसा समाज जो बोली बानी में एकदम अलग है। क्या इन लोगों के लिए अपने समाज, अपनी संस्कृति, भाषा और भूगोल से दूर होने की यातना भयावह नहीं होती होगी?

वनभूमि आदिवासियों की सामाजिक सांस्कृतिक पहचान और आजीविका का आधार होती है। इससे अलग होना ये स्वीकार नहीं कर पाते। इनके लिए ''भूमिहीन होने का अर्थ अभावग्रस्त होना है और आदिवसी समाज में इसका एक ही अर्थ होता है– मनुष्य को मनुष्यता के आधार से वंचित कर देना।" भूमि का मुआवजा नाम मात्र को मिल पाता है। सुदूर जंगलों में रहने के कारण सरकारी अधिकारी इलाके में विकास का जायजा लेने जाते ही नहीं हैं। बड़े नेता भी सिर्फ वोट के दिनों में ही जाते हैं। ''आज यह सभी स्वीकार करते है कि गाँव के छोटे किसान तथा आदिवासी शासन द्वारा निर्धारित विकास का लाभ लेने में असमर्थ

हैं। इस तरह जमीन से बेदखल आदिवसी अपने को जीवित रखने की कोशिश में शहरों में मजदूरी करता है, रिक्शा चलाता है। शहरी होटलों में झूठे कप–प्लेट धोता हैं। दूसरी तरफ शहरी आदिवासी परिवार की महिलाएँ नवनिर्मित तथा भव्य कालोनियों में नौकरानी के बतौर अपने आपको स्थापित कर चुकी है।" इस प्रकार आजीविका का संकट, अनिश्चितता और सांस्कृतिक पहचान खत्म होने का डर इनके सामने हमेशा बना रहता है।

भालचंद्र जोशी की कहानी 'राजा गया दिल्ली' पुनर्वास और मुआवजे के नाम पर प्रशासन द्वारा की जा रही ज्यादतियों को सामने लाती है। यह कहानी एक ओर तो विकास योजनाओं की वास्तविकता को सामने लाती है और दूसरी ओर वह प्रशासन और राजनेताओं द्वारा गरीब भोले–भाले किसान – आदिवासियों के साथ किये जाने वाले दुर्व्यवहार को। जिस जनता की 'वोट' पाकर राजनेता तमाम तरह की सुविधाएँ और अधिकार हासिल करते हैं, उसी जनता को हफ्तों–हफ्तों पुनर्वास और मुआवजें की राशि पाने के लिए उनके पीछे दौड़ना पड़ता है। परिणाम वही होता है जो जगन और कालू के साथ हुआ। मंत्री जी ने कोरा आशवासन देकर दोनों को वापस लौटा दिया। दोनों बिल्कुल निराश और हताश वापस लौट गए थे, जानते थे मंत्री जी ने उनसे झूठ बोला है।

आदिवासियों की बुनियादी समस्या अपने अस्तित्व और अस्मिता की खोज करना और उसकी लगातार रक्षा करना है। इसीलिए सामाजिक और कलात्मक दोनों स्तरों पर सता प्रतिष्ठान के विविध रूपों से संघर्षशीलता अनिवार्य हो जाती है क्योंकि मनुष्य की मुक्ति की प्रक्रिया अंततः अमानवीय सत्ता के विरूद्ध संघर्ष के साथ जुड़ी हुई है। अपनी अस्मिता और मुक्ति की भावना के प्रति निरंतर जागरूक हो रहे आदिवासी के संघर्ष, उनके शोषण और प्रतिवाद के स्वर को समकालीन हिन्दी कहानी बखूबी अभिव्यक्त कर रही है। आदिवासी समाज को जीवन के प्रत्येक मोड़ पर 'बाहरी लोगों' के उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता है। अंततः रचनाकार यदि वह सच्चे अर्थों में प्रतिबद्ध है तो आदिवासियों के बहुस्तरीय संघर्ष, को जरूर चित्रित करता है और समकालीन कहानी अपने इस प्रयास में निःसंदेह सफल हो रही है।

सन्दर्भ–सूची

1. भारत का विकास मार्ग– डी. आर. देसाई
2. सामाजिक मानवशास्त्र, वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा
3. आदिवासीः विकास से विस्थापन– रमणिका गुप्ता
4. बुडान– पूरन हार्डी
5. ईंट के उपर ईंट– महाश्वेता देवी
6. आदिवासी समाज और शिक्षा– रामशरण जोशी
7. मानव और संस्कृति– श्यामचरण दुबे
8. राजा गया दिल्ली– भालचंद्र जोशी

■

अस्मिता चिंतन

पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री–संघर्ष

शिवानी गुप्ता *

प्रस्तुत शोध–पत्र में अनामिका की रचनाओं में पितृसत्तात्मक समाज में महिलाओं की स्थिति, अधिकार क्षेत्र, पहचान और सम्मान के लिए लगातार संघर्षरत नारियों की स्थिति का अंकन किया गया है। पितृसत्ता के वर्चस्व तले स्त्री और पुरुष दोनों के भावनात्मक व सामाजिक विकास में आ रही बाधाओं को अनामिका के दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया गया है ताकि स्थूल रूप को छोड़ सूक्ष्म रूप की पहचान की जा सके, जिससे स्त्री–पुरुष का सर्वांगीण विकास हो। इस शोध–पत्र के माध्यम से इन्हीं पक्षों पर एक समन्वयात्मक दृष्टि प्रस्तुत करने का प्रयास है।

बीज शब्द– पितृसत्तात्मक, यौन–शोषण, परम्परा और रीति–रिवाज, संवादधर्मिता।

अनामिका समकालीन महिला रचनाकारों में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। अपने परिवेश व समय से भली–भाँति परिचित होने के कारण उनकी रचनाओं में स्त्री–स्वर मुखर रूप से अभिव्यक्त हुआ है, जो न अतिवादिता को छूता है और न ही अतिरेक के चरम पर पहुँचता है बल्कि बहुत मुलायम और गहरी अर्थ सम्पृक्ति के साथ स्त्री–पुरुष को समान धरातल पर लाने की कोशिश करता है। ठहरकर समझना व बतियाने जैसा भाव उनके गद्य व पद्य दोनों में मुख्य रूप से अभिव्यक्त हुआ है। बड़ी ममत्वभरी संवेदनाशीलता के साथ 'सुनो तो, रुको तो, अच्छा–अच्छा पहले तुम ही कहो' जैसे वाक्य स्त्री–पुरुष दोनों के लिए एक लोकतंत्र रचते हैं। जो मन को उद्वेलित करते हैं, उत्तेजित नहीं। उनकी रचनाओं में स्त्रियों की पीड़ा व शोषण का चित्रण तो किया गया है साथ ही साथ उससे उभरने की नसीहत भी दी गई है।

हम सभी जानते हैं कि साहित्य किसी भी समाज का प्रतिबिम्ब होता है। अतः उसमें सामाजिक विकास के अनुसार कार्यप्रणाली का अंकन किया जाता है, परंतु मौजूदा दौर में न केवल देश और समाज में अपितु पारिवारिक संरचनाओं में

*** संपर्क** – शोधार्थी, हिन्दी–विभाग, विनोद बिहारी महतो कोयलांचल विश्वविद्यालय, धनवाद, मेल– jishivanigupta007@gmail.com

स्त्रियों की स्थिति व उपस्थिति के संदर्भ में कई पहलू अटकन बनकर सामने खड़े होते हैं। कहते हैं कि जिस प्रकार सामाजिक व्यवस्थाएँ एवं मान्यताएँ समय के साथ बदलती रहती हैं उसी प्रकार परम्पराएँ एवं मान्यताएँ समाज के विकास में रोड़ा बनकर खड़ी रहती है, उन परम्पराओं व मान्यताओं को समय के अनुसार कर देना ही उचित होता है। साथ ही जिन नई परम्पराओं व मान्यताओं के कारण हमारा समाज आगे की ओर अग्रसर हो, उन्हें खुशी–खुशी ग्रहण कर लेना ही उचित समझा जाता है। आज के स्त्री–वर्ग को पुरानी परम्पराओं के नाम पर जकड़ने का प्रयास किया जा रहा है, जो उनके समक्ष नई–नई चुनौतियाँ खड़ी कर रहा है। अपने आप को आधुनिक समाज में स्थापित करने की कोशिश में वह दिन–रात संघर्षशील है, परंतु पुरानी परम्पराओं के विरुद्ध अपनी अलग पहचान बनाते हुए वह कुछ करना चाहती है तो उन्हें वो आजादी नहीं मिलती है। यह स्थितियाँ पितृसत्तात्मक समाज की ही देन है। हिन्दी साहित्यकोश; पारिभाषिक शब्दावली के अनुसार– 'पितृ–प्रधान समाज का निर्माण मातृसत्तात्मक व्यवस्था के बाद हुआ। काल के प्रभाव से नारी की शारीरिक अवस्था दुर्बल हो गयी और पुरुष धीरे–धीरे शक्ति संचयन करता गया और एक दिन वह परिवार का स्वामी बन बैठा। अब कुटुम्ब की व्यवस्था बदल गयी। उसका नेता पुरुष और पिता था और उसी का नेतृत्व कुटुम्ब में चलने लगा। जो स्थिति कुल परिवार में पहले नारी या माता की रही थी, वही अब पुरुष या पिता की हुई। चल–अचल, धन–संपत्ति की दाद या विरासत भी अब माता से कन्या या पुत्री की जगह पिता से पुत्र की ओर प्रवाहमान हुई। अब ब्याह कर नारी पुरुष के परिवार में आने लगी, इसी व्यवस्था का नाम पितृसत्तात्मक समाज पड़ा।'

ऊपर दी गई परिभाषा के अनुसार पितृसत्ता कोई ऐसी सत्ता नहीं है जिसमें पुरुष डंडे व मारपीट के जोर से अपने वर्चस्व को कायम करता है अपितु परम्पराओं का नाम देकर महिलाओं की मानसिकता को इस तरह से तैयार किया जाता है कि सब प्राकृतिक है। कभी धार्मिक त्योहार के नाम पर, कभी पूजा–पाठ के नाम पर, कभी उत्सव के नाम पर, कभी बाहरी काम काज के नाम पर, स्त्रियों को ऐसी रीति व नीति बताई जाती है कि वो आसानी से अपनी गुलामी स्वयं स्वीकार कर लेती हैं। कहते हैं कि समाज का हर व्यक्ति एक सामाजिक प्रक्रिया के दौरन ही पूर्ण विकसित होता है अर्थात् जन्म लेने के बाद ही वह समाज से जुड़ता व सीखता है। स्त्रियों के संदर्भ में यह पूर्ण प्रासंगिक है। सीमोन द बोउवार ने कहा है– 'स्त्रियां पैदा नहीं होती हैं बनाई जाती हैं।' अधिकतर भारतीय परम्परागत परिवारों में ऐसी ही स्थिति है। परम्पराओं व रीतियों के नाम पर स्त्रियों के व्यक्तित्व को पुरुष प्रधान समाज अपने अनुकूल बनाता है। समाज में फैली इन समस्याओं को अनामिका किसी 'राजनीतिक एजेंडा की तरह नहीं देखती हैं, बल्कि संवाद व आपसी विमर्श को ही हथियार की तरह प्रयोग करती हैं। उनमें कहीं उग्रता नहीं दिखाई देती अपितु संवाद की गहन प्रतिक्रिया देती है। उनके

अनुसार साहित्य सृजनात्मकता के बहाने मनुष्य के आपसी दुःख–सुख व सहभागिता और सहकारिता की भावना को विकसित करने का नाम है।

पुरुष–प्रधान समाज में पुरुषों द्वारा स्त्रियों के साथ जैसा व्यवहार किया जाता है व उसकी गरिमा को धूमिल किया जाता है, उसे अनामिका अपनी सृजनात्मक लेखन के माध्यम से न केवल सरलतापूर्वक अभिव्यक्त ही करती है बल्कि सरलतम ढंग से समझाते हुए कहती हैं– 'मार–पीट, गाली–गलौज, सती प्रथा, कटाक्ष, इनसेस्ट; कौटूम्बिक व्यभिचार, बलात्कार और तरह–तहर के यौन संभोग, प्रेमविहीन, विवाह–बंधन, अनचाहा गर्भ, साफ–सुथरे और सुरक्षित प्रसव केन्द्र का अभाव–दुनिया के जितने स्त्री–विषयक अपराध, अपराध हैं– प्रायः सबकी मुख्य पीठिका; प्राइम साइट स्त्री–शरीर ही तो है। शरीर जो कि इतना नरम और कोमल है, फिर भी इतना कर्मठ, लचीला और फुर्तीला शरीर, जिसने आपको धारण किया है, आपको पाला–पोसा है, कहानियाँ–लोरियाँ सुनाई हैं, दिन–रात आपकी खिदमत में जुटा है, आखिर आपसे चाहता क्या है? वैसा व्यवहार जो बकौल पोरस एक राजा दूसरे से चाहता है। प्रजातंत्र का गौरव इसमें ही है कि यहाँ सब शहंशाह हैं, कोई छोटा–बड़ा, ऊँचा–नीचा नहीं है, सबकी ही मानवीय गरिमा की रक्षा होनी है।'[2]

पितृसत्तात्मक समाज ने स्त्री की देह को केवल भोग्य व वस्तु की तरह देखा है। वह स्त्रियों के योगदान को मूलतः भूल चुका है, साथ ही यह भी कि किस प्रकार एक स्त्री अपने दुलार व प्रेम के माध्यम से उसे मनुष्य बनाती है। अनामिका इस मनुष्यता को दो भागों में बाँटकर अर्थात् स्त्री–पुरुष के रूप में विभक्त करके ना देखते हुए दोनों को समान धरातल पर लाती हैं, जिससे पुरुषों के अंदर भी मातृत्व का गुण पले व स्त्री–पुरुष के मध्य स्वामी व दासपन वाला भाव मिट सके और जीवन के सफर में प्रेम–साहचर्य के साथ दाम्पत्य जीवन का निर्वहन हो परन्तु मौजूदा दौर में प्रेम–साहचर्य की भावना तो दूर, शासक और शासित वाली भावना अधिक विकसित हो रही है। इस भावना को रेखांकित करते हुए अनामिका कहती हैं कि–

'स्वामी जहाँ नहीं भी होते थे
होते थे उनके वहाँ पंजे,
मुहर, तौलिए, डंडे,
स्टैंप–पेपर, चप्पल–जूते,
हिचकियाँ–डकारे, खर्राटे
और त्यौरियाँ, धमकियाँ–गालियाँ खचाखच।'[3]

यह दुर्भाग्य की ही बात है कि जिस प्रेम व अपनत्व की रोमानी कल्पना के साथ एक लड़की विवाह कर अपने नए घर में प्रवेश करती है, वह प्रेम व दुलार समय के साथ न जाने कहाँ खो जाता है और स्त्री 'हुक्म' मानने वालों में कन्वर्ट कर दी जाती है। उपरोक्त कविता गुलामी की इसी मानसिकता का प्रतिपादन

करती है।

वर्तमान दौर में लिंग के आधार पर सामाजिक व्यवस्थाओं व कार्यों का जिस तरह से विभाजन किया गया है अर्थात् ऐसा घुला–मिला दिया गया है कि उन्हें पृथक करके देख पाना मुश्किल है। भाषायी व्याकरण के चक्कर में हम पुरुष को स्त्री से अधिक वरीयता दे देते हैं। उदाहरण के तौर पर जब एक स्त्री माँ बनती है तो सब कहते हैं 'बच्चा' होने वाला है। कोई यह नहीं कहता है कि 'बच्ची' होने वाली है। स्त्री कहती है कि देखिए ना पैर मारता है, घूम रहा है वगैरह। यह कैसा भाषायी विकल्प है जो कि हम कह नहीं पाते कि शिशु होने वाला है। हमारे बोलचाल में, रहन–सहन में सब जगह भाषा इस प्रकार घुल–मिल गई है कि पुरुष स्वयं उच्चतम शिखर पर बैठ जाता है। इस बात को अनामिका अपनी कविता में बेहद संजीदगी के साथ उभारती है–

'राम पाठशाला जा।/राधा खाना पका।/राम, आ बताशा खा!/राधा, झाडू लगा!/भैया अब सो गए/जाकर बिस्तर बिछा।'[4]

स्त्री–पुरुष को दो ध्रुवों में बँटकर देखना अनामिका को ना गवारा है। वह कहती हैं कि क्यों स्त्रियों के मन में केवल प्रेम, लज्जा व सहकारिता जैसी भावनाएँ विकसित की जाती हैं और क्यों पुरुषों को उनकी मानवीय अभिव्यक्तियों व कोमल संवेदनाओं को प्रदर्शित करने से रोका जाता है। क्यों बचपन से ही तुम पुरुष हो, तुम मर्द हो, तुम मालिक हो, तुम्हें ही तो सबकी रखवाली करनी है, के चक्कर में पुरुष को रोबीला, आक्रामक व बलवान बनाया जाता है। पितृसत्तात्मक समाज केवल स्त्रियों के ही मन को नहीं मारता है अपितु पुरुषों को भी उनकी मानवीय भावनाओं को अभिव्यक्त करने से रोकता है। भावनाएँ व संवेदनाएँ जो किसी व्यकित के जीवंत होने का प्रमाण है। उन्हें ही पितृसत्तात्मक समाज ने केवल अपने स्वार्थ से वशीभूत होकर अपने पास रख रखा है। अपने लोभ के कारण पुरुषों को संवेदनाओं से च्युत कर उसे हिंसक बना दिया है। यह पूर्वग्रह सहकारिता की भावना को विकसित करने से न केवल रोकता है बल्कि अधिकार भावना को भी प्रबल बनाता है, जो माइक्रो व मैक्रो दोनों ही स्तर पर अच्छा नहीं हैं बराबरी का स्तर तभी विकसित होगा जब स्त्री–पुरुष समान धरातल पर आएंगे। न स्त्रियाँ अति स्त्री बनेंगी, न पुरुष अति पुरुष।

अनामिका की रचनाओं में न केवल स्त्रियों के दुख–दर्द को ही उभारा गया है बल्कि उससे अबरने का उपाय भी बताया गया है। सम और विषम दोनों ही परिस्थितियों में स्त्रियों द्वारा स्वयं ही अपने आप को चूल्हें में झोंक दिया जाए, ऐसी सोच का वह बड़ी सादगी के साथ विरोध करती है। मुंह खोलने व अपनी बात आप रखने की तरजीह देते हुए कहती हैं–

'सुना गया हमको
यों ही उड़ते मन से
जैसे सुने जाते हैं फिल्मी गाने

सस्ते कैसेटों पर
ठसाठस्स ठुँसी हुई बस में।
सुनो, हमें अनहद की तरह
और समझो जैसे समझी जाती है।
नयी–नयी सीखी हुई भाषा।'[5]

सुनने और समझने की यह अपील कितनी वाजिब है। मीठी व प्यारी भाषा में स्त्रियों की बात को जनसामान्य के सामने रखना अनामिका को 'सामान्य' से 'विशेष' बना देता है। ज्ञान, बुद्धि, कौशल, विवेक व ममता अनामिका की रचनाओं के पंच प्राण हैं, ऐसा कहे तो कोई अतिश्योक्ति न होगी।

अनामिका समाज व परिवार में फँसी स्त्रियों की दशा का भी मार्मिक चित्रण बड़ी संजीदगी के साथ करती है। 'चौदह वर्ष की दो सेक्स वर्कर्स' नामक कविता में उन्होंने पुरुष की उस बर्बरता का वर्णन किया है, जो अपने आचरण से इतना पतित हो चला है कि एक अबोध बालिका को भी अपने हवस का शिकार बना लेता है–

'अंकल तुम भारी हो।/अच्छा एक चॉकलेट खिला दो।/अंकल तुम्हारी भी बेटी है?

अच्छा बोलो उसका क्या नाम?

वह भी मेरे जैसी मजेदार है क्या–बोलो तो।'[6]

यह कैसी बिडंबना है कि खेलने–कूदने व पढ़ने की उम्र में बच्चियों के सुनहरे भविष्य पर कालिख पोत दी जाती है। यह स्थिति केवल बाहरी नहीं है अपितु जितनी बाहरी है उतनी ही आंतरिक भी। कहने का तात्पर्य यह है कि स्त्रियाँ जो घर में सुरक्षित मानी जाती थीं, वह अब घर में भी सुरक्षित नहीं है। घर, जहाँ स्त्री असमानता व भेदभाव के पाठ स्त्री–पुरुष दोनों को ही पढ़ाए जाने चाहिए वहाँ बाप की पगड़ी और पिता की इज्जत का सारा भार स्त्रियों के माथे ही मढ़ दिया जाता है। अनगिनत समझौते व पितृसत्तात्मक शिक्षा के पश्चात् कोई स्त्री गलती से भी कुराह पकड़ लेती है तो घर वाले निर्मोही होकर उसकी जान लेने को उतारू हो जाते हैं। उदाहरणस्वरूप–

'मीरा रानी तुम तो फिर भी खुशकिस्मत थी,
तुम्हें जहर का प्याला जिसने भी भेजा,
वह तुम्हारा भाई नहीं था
भाई ने जो भेजा होता
प्याला जहर का,
तुम भी मीराबाई डंके की चोट पर
हँसकर कैसे जाहिर करती कि
साथ तुम्हारे हुआ क्या
भैया ने भेजा– 'ये कहते हुए जीभ कटती।'[7]

बहुस्तरीय यथार्थ को लोक की भूमि पर स्त्री–भाषा में अनामिका बड़ी खूबसूरती के साथ रचती हैं। लोक–कहावतें, लोक–परम्पराएँ, लोक–गीत, लोक–मिथक मानों सभी उसके काव्य व गद्य वृक्ष पर बैठे पक्षी हैं, जो सभी चीजों पर अपनी नजर टिकाएं हैं। उनकी आवाजाही व आवाज को किसी भी तरह से नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है।

पितृसत्तात्मक के वर्चस्व तले निरंतर क्षय होती स्त्री की मुक्ति को खोजना व उसे खुला आकाश प्रदान करना उनकी रचनाओं का प्राण है। इसी मुक्ति की आकांक्षा में अनामिका स्त्रियों को अपने सपने आप बुनने की बात करती हैं। वह कहती हैं कि अपने भविष्य के सपने गढ़ने में निर्णय अगर गलत भी हो जाए तो भी निर्णय लिया गया यह बड़ी बात है। जीवन के सभी निर्णय सही ही हों यह स्त्री–पुरुष दोनों के लिए ही द्वन्द्वात्मक स्थिति है। निर्णय हमेशा सही नहीं होते हैं पर जीवन की सच्चाई, उससे लड़ने की क्षमता व आगे का मार्ग अवश्य प्रशस्त कर देते हैं। 'दस द्वारे का पिंजरा' उपन्यास में तारा इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहती हैं– 'सीता के जीवन का सबसे बड़ा सच है लक्ष्मण रेखा लाँघ जाना यानी आपात् स्थिति में अपने विवेक के हिसाब से नियमावलियों में परिवर्तन का साहस! निर्णय गलत भी हो जाएँ तो क्या निर्णय लिए गए, यही बड़ी बात है। दस में से एक निर्णय किसका गलत नहीं होता। अपने हिसाब से उन्होंने ठीक ही निर्णय किया– किसी को भिक्षा दी, भूखे को भोजन दिया... और इस तथाकथित गलत निर्णय का तेज ही था जो बाद में रावण के वध का निमित बना! न होता इस निर्णय का तेज तो रावण का वध कैसे होता? सीता कठपुतली होती तो रावण कैसे मारा जाता जीवन में दो–चार निर्णय गलत भी होते हों तो हो जाएँ–वे अक्सर किसी बड़े प्रयोजन का द्वार सिद्ध होते हैं–'[8]

संवादधर्मिता के माध्यम से अपनी बात को बड़े मनोयोग से रखने की सूझबूझ अनामिका के शब्दों में प्राण डाल देती है। उनका रचना–संसार उनके निश्छल अभिव्यक्ति का परिचायक है। उनकी रचनाओं में किसी के लिए कोई द्वेष व घृणा का भाव नहीं हैं ना ही उनकी लड़ाई पुरुषों से है। बल्कि उनकी लड़ाई के केन्द्र में वह पुरुषोचित मानसिकता है जो उन्हें मातृत्व भाव से वंचित कर पुरुष होने के रोब से भरता है। अनामिका की रचनाएँ स्त्री–पुरुष साहचर्य, सहजीवन, सामंजस्य, अखंड प्रेम व ममत्व की मंगलकामनाओं से परिपूर्ण है। उनके यहाँ तो सीता और रावण भी आपस में संवाद करते दिखाई देते हैं। तमाम विचारक, समाज–सुधारक भी स्वयं उनके यहाँ स्त्री से मिलने आते हैं–

'तुम्हारा सुधार नहीं/व्यर्थ मैंने ऊर्जा जाया की/खोस संताप से उसने कहा/और चला गया/राम मोहन राय, ईश्वरचंद, कार्वे,/राणा डे, ज्योतिबा फुले/पंडित रमाबाई, सावित्री बाई/मुझसे सब मिलने आये।

उन्होंने मेरा माथा सहलाया
और बोले धीरे से–

इतिहास के सुधार आंदोलन/स्त्री दशा को निवेदित थे,/और सुधारना किसे था, यह कौन कहे।'[9]

उपरोक्त पंक्ति का अंतिम वाक्य और सुधरना किसे कहा था, यह कौन कहे' इसे कहना अनामिका के ही बस की बात है। वह सहज व सुलभ भाव–भंगिमा के साथ अपनी बात रखती है। उनका मानना है कि कोई भी व्यक्ति कितना भी बुरा क्यों न हो उसके भीतर कोई न कोई अच्छाई छिपी हुई होती है बस शर्त यह होनी चाहिए कि उस अच्छाई को बड़ी कोमलता के साथ बाहर लाया जाए। न कि आक्रोश के सरप्लस उसे व उसकी बात को समझने का प्रयास ही न किया जाए। करुणा व प्रेम के माध्यम से ही बंजर भूमि पर बीज अंकुरित हो सकता है। स्त्री अपने तर्क व संयम के बल परिवर्तन लाने में सक्षम है। निष्कर्षतः अनुभव व अध्ययन की जो संपदा अनामिका को उनके लोकजीवन से प्राप्त हुई है, वह उन्हें बड़े सुन्दर ढंग से अपनी रचनात्मक कला से उभारती हैं। लोक से जुड़कर स्त्री–कविता व उसकी भाषा को जिस वेग से वह प्रवाहित कर रही हैं, जरूरत है उसे पढ़ने व समझने की।

संदर्भः

1. वर्मा, धीरेन्द्र (प्रधान संपादक), हिन्दी साहित्य कोश भाग–1, पारिभाषिक शब्दावली, ज्ञानमंडल लिमिटेड प्रकाशन, वाराणसी, 1963, पृष्ठ संख्या–383
2. अनामिका, स्वाधीनता का स्त्री–पक्ष, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ संख्या–9
3. अनामिका, तिनका तिनके पास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ संख्या–149
4. अनामिका, कहती हैं औरतें, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2022, पृष्ठ संख्या–152
5. अनामिका, कवि ने कहा, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ संख्या–9
6. अनामिका, कविता से औरत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019, पृष्ठ संख्या–115
7. अनामिका, पानी को सब याद था, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2021, पृष्ठ संख्या–65
8. अनामिका, दस द्वारे का पिंजरा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2023, पृष्ठ संख्या– 138
9. अनामिका, टोकरी में दिगंत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2021, पृष्ठ संख्या– 60

■

शिक्षा–दर्शन–चिंतन

'एक और द्रोणाचार्य'

शिक्षा व्यवस्था और शंकर शेष के नाटक

डॉ. रामप्रवेश रजक*

डॉ. शंकर शेष साठोत्तरी हिन्दी नाट्य साहित्य के प्रमुख नाटककार हैं। इनकी सर्वाधिक ख्याति इनके नाटकों के कारण ही हुई। इनके प्रत्येक नाटक समाज के किसी न किसी गूढ़ समस्या को ध्यान में रखकर लिखा गया है। एक और द्रोणाचार्य नाटक शिक्षा व्यवस्था की विसंगतियों और विडंबनाओं को लेकर नाटककार ने लिखा।

'एक और द्रोणाचार्य' डॉ. शंकर शेष द्वारा 1971 ई. में रचित नाटक है। उन्होंने इस नाटक को दो भागों में विभक्त किया है पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। दोनों भागों में समस्या को जटिलता के साथ नाटककार ने प्रस्तुत किया। प्रथम भाग में प्रो. अरविन्द व्यवस्था के आगे झुकना नहीं चाहता और अपने आदर्शों के आधार पर ही सारे फैसले लेना चाहता है परन्तु परिस्थितियों और आने वाले भयावह परिस्थितियों के भय ने उन्हें अपने आदर्शों के साथ समझौता करना सिखा देता है। उसके बाद भी वो घुट–घुट कर जीता है। जो इस नाटक के उत्तरार्द्ध में दर्शाया गया है। इस नाटक में दो कथा एक साथ चलती है एक मिथक और दूसरा वर्तमानकालीन। इसके साथ ही एक उपकथा भी चलती है विमलेन्दु की। विमलेन्दु इस भ्रष्ट शिक्षा व्यवस्था के आगे अपने आदर्शों के साथ खड़ा हो गया परन्तु उसे मिला क्या मृत्यु।

इसलिए, इस नाटक के कथानक को और नायक द्वारा लिये गये फैसलों को विमलेन्दु का जीवन अत्यन्त प्रभावित करता है। विमलेन्दु वर्तमान युग का प्रोफेसर रहता है परन्तु नकल पकड़ने की वजह से उसकी तीन साल पहले हत्या कर दी जाती है। उसके इस अकस्मात् मृत्यु को लोगों ने बलिदान का जामा पहना दिया, पर किसी ने नहीं सोचा कि ये कोई उम्र है उसकी मरने की। अपनी पत्नी और बच्ची को भगवान के भरोसे छोड़कर स्वयं भगवान के द्वार चला गया। ऐसी परिस्थिति में जब उसका परिवार त्रासदी का शिकार हो गया तब लोग उसी की चिता के आगे व्याख्यान देकर ये प्रमाणित करने पर तुले हुए थे कि वो उसका

* **संपर्क** – अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालयए कोलकत्ता–700073, चलभाष – 9800296137

कितना बड़ा जिगर जान दोस्त है। पर असलियत तो सभी जानते हैं। इस सम्बन्ध में विमलेन्दु स्वयं कहता है– ''तुम जानते हो, पर कहोगे कैसे! सब मन ही मन मेरी बेवकूफी पर तरस खा रहे थे। होड़ लगी हुई थी हरामी लोगों में। एक ने तो इसी होड़ में मेरे बाप को भी क्रांतिकारी कहा। तपस्वी और त्यागी कहा। साला क्या जानता था कि मेरा बाप गँजेड़ी था और सट्टा लगाता था। तो समझे, किसी की जान जाए और ये साले पब्लिसिटी करें।''[1]

द्रोणाचार्य महाभारत के काल का शिक्षक है, स्वाभिमानी है भावुक है और चाहते हैं कि उसकी विद्या का सही मूल्यांकन हो। परन्तु उनकी अवस्था एक दरिद्र भिखारी ब्राह्मण की रहती है। उनकी पत्नी कृपी बड़ी मुश्किल से दो जून की रोटी जुटाती है। वो जब तक अपने आदर्शों के साथ रहा तब तक उसके साथ दरिद्रता भी बनी रही। जब वो अपने आदर्शों के साथ समझौता करना स्वीकार किया तब उसे वो सब भौतिक सुख सुविधा और सुरक्षा प्राप्त हुआ जिसे पाने के लिए वो संघर्ष कर रहा था। पर एक चीज थी जो उसके हाथों से उसके दिल और दिमाग से छीन गया था, वो थी मानसिक शांति, स्वाभिमान, न्यायप्रियता, सत्ता की जी हुजूरी करते–करते सत्ता की ही बोली बोलना। अपनी स्थिति के विषय में द्रोणाचार्य स्वयं कहते हैं – ''नहीं कर पाया। उस दासता ने मुझे सुरक्षा दी। झूठी प्रतिष्ठा दी। सुविधाओं ने मेरी धार भोथरी कर दी। मेरे भीतर के उस आदमी को जगाया जो बदला लेता है, जो अपने अहंकार को संसार से बड़ा मानता है। द्रुपद से बदला लेने के लिए मैंने अपने विद्यार्थियों को युद्ध का उन्माद दिया। उनका उपयोग अपने स्वार्थ के लिए किया – कृपी! मैं हर दिन छोटा आदमी होता गया।''[2]

इससे ज्यादा अलग हमारे देश की वर्तमान शिक्षकों की अवस्था से कम नहीं है। प्रो. अरविन्द भी इस व्यवस्था से टकराना चाहता है, क्योंकि वो इस व्यवस्था की भेड़ चाल के साथ चलना नहीं चाहता परन्तु अपनी महत्वाकांक्षी स्वभाव की पत्नी लीला, यदू जैसा लोभी मित्र, प्रेसीडेंट के दवाब और प्रिंसिपल द्वारा डराने वाली परिस्थितियों की कल्पना ने उसे समझौता करने पर मजबूर कर दिया। विमलेन्दु की गति भी उसके फैसलों के लिए अहम् जिम्मेदार बनी। वो द्रोणाचार्य की भाँति अपने इस फैसले को जीवन के अंत तक अपने अंतरमन से न स्वीकार कर सका और न अस्वीकार। प्रो. अरविन्द भी अपनी स्थिति के विषय में कहता है– क्या करूँ, लीला? उसने मेरी जीभ छीन ली।''[3]

व्यक्ति को यदि सही और गलत का ज्ञान न हो तो गलत करता है तब बात समझ में आती है। परन्तु यदि गलत और सही का भली–भाँति ज्ञान हो और आत्मा से भी सच्चरित्र का ही पक्षधर हो, तब भी गलत करे। ये समस्या देश समाज हर एक वर्ग के लिए घातक सिद्ध होता है।

शिक्षा क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ देश की भावी पीढ़ी का निर्माण किया जाता है। हर पीढ़ी अपने अध्यापक से ज्ञान और संस्कार ग्रहण करता है। अध्यापक जितना अधिक सच्चरित्र का होता है। अपनी कथनी और करनी में भेद न करने वाला होता है। उस अध्यापक का सम्मान उसका विद्यार्थी आजीवन करता है।

'एक और द्रोणाचार्य' नाटक में एक ऐसे अध्यापक और बुद्धिजीवी का रहस्योद्घाटन होता है जो अपनी कथनी और करनी को एक नहीं कर पाता है। इस विषय में नर नारायण राय ने कहा है कि – ''शंकर .... के इस नाटक में समाज के एक ऐसे वर्ग को नंगा कर दिया गया है जो संभ्रान्त और प्रतिष्ठित होकर भी स्वार्थ, शोषण और सत्ता के समक्ष दुम हिलाने वाले पालतू कुत्ते से अधिक बड़ा व्यक्तित्व नहीं रखते और तुर्रा यह कि वे भावी पीढ़ी के निर्माता होते हैं – द्रोणाचार्य।''[4] अपनी इसी कायरता के कारण प्रो. अरविन्द न्याय पक्ष के साथ खड़ा नहीं रह पाया। उसने चंदु और अनुराधा के साथ अन्याय किया और राजकुमार और प्रेसीडेंट जैसे अन्यायी के साथ खड़ा हो गया। महाभारतकालीन आचार्य द्रोणाचार्य ने भी सत्ता की दासता स्वीकार करने के कारण एकलव्य से दाहिने हाथ का अंगूठा माँगकर उसके साथ अन्याय किया और जब द्रोपदी का सार्वजनिक वस्त्रहरण किया जा रहा था तब भी थे और उनकी तलवार मौन ध ाारण किए रही। इस मौन को झकझोर देने वाली आवाज द्रोपदी ने लगायी भी। उसने कहा – ''आचार्य, आप तो न पांडवों के रक्त सम्बन्धी हैं, न कौरवों के। आप आचार्य हैं दोनों के। क्या दुर्योधन आपका कहना नहीं मानेगा? आपको तो सत्ता का मोह नहीं है। क्या आप अपने शिष्यों की पत्नी को सार्वजनिक रूप से अपमानित होते देख सकते हैं? उठाइए अपना धनुष।''[5] इस करुण पुकार ने भी द्रोणाचार्य की दासता की बेड़ियाँ तोड़ नहीं सकी और न ही उनके भोथर तलवार में जान डाल सकी। इस बार वो न्याय पक्ष से साथ खड़ा रहे। परन्तु फिर से प्रेसीडेंट की धमकी ने उसे अन्याय का साथ देने के लिए मजबूर कर दिया। तब अनुराधा के समक्ष अपने पक्ष को सही प्रमाणित करने के लिए जो दलील देता है वो सच में मानवता को शर्मसार कर देती है – ''जरा सोचो तो, जोश अलग बात है। समझदारी से काम लो। रेस्टीकेट होने के बाद भी तो राजकुमार तुम्हें तंग कर सकता है। उसका क्या भरोसा? हो सकता है क्षमा उसका मन बदल दे। उसे सुध ाार दे।''[6]

'एक और द्रोणाचार्य' नाटक में राजकुमार ज्ञान के महत्व को समझकर ज्ञानी बनने का उद्देश्य नहीं पालता है बस अपने पिता के रुतबे से शिक्षित बनने का प्रमाण–पत्र चाहता है। शिक्षित होने का मापदण्ड यही परीक्षा प्रणाली निर्धारित करती है जब यह प्रणाली ही भ्रष्टाचार के केन्द्र में खड़ी हो जाए तो देश की भावी पीढ़ी की क्या अवस्था होगी। जैसे बिहार का टॉपर घोटाला जिसमें एक ऐसी

विद्यार्थी को टॉप कर दिया जाता है जो विषयों के नाम का भी सही उच्चारण नहीं कर सकते और ना ही उसे ये पता है कि उस विषय में पढ़ाया क्या जाता है पर व्यवस्था ने पैसे के दम पर टॉप कर दिया। क्या हमारे देश का भावी नेतृत्व ऐसे विद्यार्थी करेंगे? जिनकी खुद की शिक्षा इतनी दयनीय है। ''बिहार से परीक्षा पास कर प्रवेश या नौकरी के लिए साक्षात्कार देने वाले हर अभ्यर्थी को शक की निगाह से देखा जाता है। ऐसा कई दशकों से हो रहा है सरकारें आती हैं, घोषणाएँ करती है मगर वैशाली, टॉपर घोटाला या मथुरी प्रकरण रुकते नहीं हैं या यों कहें रोकने में किसी की रूचि नहीं है।''[7]

नकल का ये रूप केवल बोर्ड की परीक्षाओं के स्तर तक ही सीमित नहीं है। अब ये समस्या विश्वविद्यालय के स्तर तक पहुँच गया है। वहाँ भी पीएच.डी. की डिग्री के लिए शोध प्रबंध के मामले में नकल दिखायी देता है जिसे डॉ. शंकर .... भली–भाँति जानते और समझते थे जिसका जिक्र उन्होंने अपने नाटक बंधन अपने–अपने में किया है। यह नाटक एक शिक्षित वर्ग समूह को लेकर लिखा गया है। जिसमें डॉ. जयंत एक विश्वविद्यालय के प्रोफेसर है। जिन्होंने अपनी ईमानदारी से शिक्षा जगत में बहुत नाम कमाया है, परन्तु उनके साथ ही इसी जगत में आचार्य चन्द्रिका प्रसाद जैसे प्रोफेसर भी हैं जो अपने जीवन में सौ–सौ विद्यार्थियों को डॉक्टरेट की डिग्री प्रदान करने की कामना रखते हैं। इसलिए उनके लिए योग्य और अयोग्य विद्यार्थी कोई मायने नहीं रखता। जिनके विषय में चंदन कहता है– ''मैं तो आचार्य चन्द्रिका प्रसाद के निर्देशन में पी–एच.डी. करूँगा। आचार्य अभी तक 99 लोगों को पी–एच.डी. दिलवा चुके हैं और वे मरने से पहले 'सेंचुरी' बनाना चाहते हैं। मैं उनका सौंवा पी–एच.डी. बनूँगा। पंडित जी भी कीर्ति तो मैंने यहाँ तक सुनी है कि बस उनके चरणों में पड़े रहो तो भी पी–एच.डी. मिल जाती है।''[8] जब बिना मेहनत के ही सब कुछ मिल सकता है तो मेहनत करने की क्या आवश्यकता। ऐसी शिक्षा विद्यार्थियों को कामचोर बनाती है और डिग्री के प्रति मोह पैदा करती है। उनका लक्ष्य एक आदर्श नागरिक का निर्माण करना नहीं रहता है जिसके कारण उच्च पदों में विराजमान ऐसे अयोग्य नागरिक ऐसी अयोग्यता को और भी बढ़ावा दे रहे हैं। ऐसी परिस्थितियों में हम कभी भी विश्वगुरु तो फिर से नहीं बन सकते हैं। जब शोध के स्तर में भी इस प्रकार का भ्रष्टाचार सामने आता है जिसमें शोध पत्र की पूरी या आंशिक चोरी को एक नहीं अनेक बार पकड़ा जाता है और वो एक सामान्य खबर की तरह लोगों के समक्ष आती है और समाप्त हो जाती है। कुछ लोग तो अपने शोध पत्र को ही दूसरों से लिखवा कर 'डॉक्टर' बन जाते हैं।

ऐसा मामला केवल शिक्षा के सम्बन्ध में ही नहीं बल्कि नौकरी और पदोन्नति के सम्बन्ध में भी अपनी जड़ फैला चुकी है। डॉ. शंकर की दृष्टि इस ओर भी गयी है उन्होंने बंधन अपने–अपने नाटक में इसे विस्तार से वर्णन किया

है कि किस प्रकार व्यक्ति पदोन्नति के लिए भी अपने मेहनत के बजाय दूसरे रास्तों का सहारा लेते हैं। इस विषय में डॉ. संपतराव जाधव लिखते हैं – ''इस कृति में अनादि के मित्र चंदन के माध्यम से नौकरी के क्षेत्रों में चलने वाले भ्रष्टाचार पर प्रकाश डाला है। चंदन अन्य कर्मचारियों के वास्तविक प्रमोशन के अधिकारों को दूर रख अपने लिए प्रमोशन की इच्छा रखते हुए, अपने बॉस को खुश करने के लिए बॉस की पत्नी मिसेस कटारिया के लिए पेरिस से लिपिस्टिक मँगवा कर होठों की सुंदरता की प्रतिस्पर्धा में उन्हें जिताना चाहता है वास्तव में अपनी कार्य कुशलता, बौद्धिक क्षमता के बल पर प्रमोशन मिलने चाहिए, देने भी चाहिए, परन्तु इसके स्थान पर प्रमोशन से प्राप्त उच्च पदों से प्राप्त होने वाले अधिक वेतन पर ही दृष्टि रख ऐसे गलत हथकंडे अपनाये जाते हैं। यहाँ होठों की सौंदर्य स्पर्धा दर्शा कर समाज किस ओर जा रहा है, इस पर भी व्यंग्य कसना लेखक का हेतु रहा है। चंदन डॉ. जयन्त जैसे अनुसंधान–प्रिय व्यक्ति से लिपिस्टिक मँगवाना चाहता है, अतः स्वयं लिपिस्टिक का रिसर्च स्कॉलर बतलाकर यह कार्य करवाना चाहता है। यह झूठ और फरेब का सामाजिक जीवन में होने वाला विस्तार, चिंता का विषय बन गया है।''[9] स्पष्ट है जब हमारी शिक्षा ही विद्यार्थियों को मेहनतकश नहीं बनाती तो नौकरी पाने के बाद क्या वो मेहनती बन पाएँगे? वहाँ भी अपनी शिथिलता से लोगों की परेशानी का कारण बनेंगे।

ऐसे अयोग्य नागरिक जब उच्च पदों पर पदस्थ रहेंगे तो योग्य नागरिक को नौकरी के लिए दर–दर भटकना पड़ेगा अपने आदर्शों की वजह से कभी उच्च स्थान को प्राप्त न कर सकेगा जिस ओर दृष्टिपात करते हुए डॉ. शंकर ...... ने मूर्तिकार नाटक में लिखा है। अनादि एक ईमानदार साहित्यकार है पर उसके साहित्य का किसी प्रकार का कोई महत्व नहीं मिलता है जिसके कारण वो गरीबी और गुमनामी का शिकार बना रहता है और जैसे ही वो अपने सिद्धान्तों से च्युत हो जाता है वो प्रतिष्ठा और धन दोनों प्राप्त कर लेता है जो एक और द्रोणाचार्य को बहुत अधिक प्रतिष्ठा और सम्मान मिलना चाहिए, क्योंकि वह राष्ट्र निर्माता है। वह प्रशासक, राजनीतिक, चिकित्सक, इन्जीनियर, वकील और सभी प्रकार के उपयोगी नागरिक तैयार करता है परन्तु भारत में अध्यापक को एक व्यावसायिक व्यक्ति माना जाता है। वह भी अन्य व्यक्तियों के समान वेतनभोगी व्यक्ति है। आज अध्यापक को अधिक सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता। इसके लिए समाज तो दोषी है हीं, सरकार और स्वयं अध्यापक भी दोषी हैं। उन्हें इतना अधिक आकर्षक वेतन नहीं मिलता कि वे निश्चित होकर सम्मान के साथ जीवन–यापन कर सकें।''[10]

प्रिंसिपल बना प्रो. अरविन्द भी अपनी आर्थिक समस्या को ही प्रधानता देता है जब तक शिक्षक अपनी इस समस्या से मुक्त नहीं होगा तब तक उससे भावी पीढ़ी का निर्माण होना असम्भव है। अरविन्द अनुराधा की इज्जत लूटने से तो बचा

लेता है परन्तु उसके लिए लड़ने को तैयार होकर भी लड़ नहीं पाता क्योंकि वो अपनी स्वाधीनता प्रेसीडेंट के आगे गिरवी रख देता है। उस पर इल्जाम लगते हैं तथा प्रेसीडेंट उसे धमकी देता है जेल भेज देने का, क्योंकि उसे पता है कि ऐसे व्यक्ति को कैसे काबू में रखा जा सकता है। अपनी इस अवस्था से अरविन्द परेशान होकर कहता है – ''हाँ, मैं भी। नाली में गिरने के बाद दुर्गन्ध से कहीं बचाव है? पिछले हफ्ते फर्नीचर के नाम पर ग्रांट से पंद्रह हजार रुपये इसने कॉलेज से उठाए। कल लौटाने वाला था, पर यह घटना हो गयी। मैंने विरोध किया इसलिए गबन– धोखाधड़ी–जालसाजी।''[11] कल तक जो कुछ भी एडजस्टमेंट और अंडरस्टैंडिंग था विरोध के बाद गबन में परिणत हो गया। प्रेसीडेंट चालाक, जालसाज और रुतबे वाला व्यक्ति है। वो अरविन्द से पहले जो प्रिंसिपल था उसे भी अपने इशारों पर नाचने वाला कुत्ता बना दिया। जिसका उसने कभी सम्मान नहीं किया। अपनी अवस्था के विषय में पुराने प्रिंसिपल स्वयं कहता है– ''किसकी हिम्मत है? जल्लाद से भी कहीं कोई विरोध किया जाता है। मुझे तो सुबह से शाम तक गाली देता है, गधा और उल्लू का पट्ठा कहता है पर क्या करूँ, सुनता हूँ, सुनूँगा नहीं तो जाऊँगा कहाँ। नौकरी जो करनी है।''[12]

प्रेसीडेंट अपने ताकत, रुतबे और गुंडागर्दी के बल पर सबको अपने इशारों पर नाचने के लिए मजबूर कर देता है उस पर भी वो जनता के सेवक बनकर चुनाव लड़ता है और जीतता है। ऐसे व्यक्ति यदि शिक्षा संस्थान खोलकर बैठ जाए तो उनके लिए शिक्षा संस्थान शिक्षा का एक मंदिर न होकर एक मुनाफा कमाने वाली व्यापारिक संस्था बनकर रह जाती है और शिक्षा से जुड़े हुए प्रत्येक व्यक्ति उसकी बात मानने के लिए विवश खड़ा दिखाई देता है। ''वर्तमान समय में शिक्षा संस्थाएँ अधिक मात्रा में राजनीति से जुड़ी हुई हैं। राजनीतिक का शिक्षा क्षेत्र पर अधिकार हो गया है। इसलिए 'जी हजूरी' करने वालों का बोलबाला और ईमानदार, सच्चे व्यक्ति पिछड़ जाते हैं। रोजी–रोटी के समक्ष 'प्रोफेशनल एथिक्स' मॉरल एथिक्स गौण हो जाते हैं।''[13] एक समय था जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर, पंडित मदन मोहन मालवीय जैसे व्यक्ति किसी उद्देश्य से शिक्षा क्षेत्र से जुड़े हुए थे और एक आज का समय है जब ऐसे स्वार्थी और लोभी व्यक्ति शिक्षा संस्थानों का नेतृत्व कर रहे हैं जिसका कोई निश्चित उद्देश्य नहीं है केवल डिग्रियाँ प्रदान करने वाली एक संस्था बनकर रह गयी है। इसीलिए आज हमारे देश की ये हालत हो गयी है कि इन शिक्षा संस्थानों से पढ़कर निकलने वाले अधिकतर व्यक्ति किसी नौकरी के लायक नहीं होते हैं। जिसके कारण पी–एच.डी. की डिग्रीधारी व्यक्ति चपरासी की नौकरी के लिए फार्म भरता है।

निष्कर्ष :

डॉ. शंकर .... ने एक और द्रोणाचार्य नाटक **1971** में लिखा, परंतु उसकी प्रासंगिकता आज भी विद्यमान है। आज भी शिक्षा तंत्र में प्रो. युद्ध और प्रो.

अरविन्द जैसे लोग विद्यमान हैं और प्रेसीडेंट जैसे व्यापारी इसे एक व्यापार की तरह चला रहे हैं। इन परिस्थितियों में हमारे देश का भविष्य पल रहा है। ऐसे में हमारा देश पुनः विश्व गुरू के पद पर आसीन कैसे हो सकेगा।

संदर्भ सूची

1. कुकरेती हेमंत (सं.), शंकर ....समग्र नाटक (खण्ड–2), किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–201 पृ.–187
2. वही, पृ.–131
3. वही, पृ.–125
4. राय नरनारायण (सं.), हिन्दी नाटक और नाट्य समीक्षा, पृ.–24
5. कुकरेती सं. हेमंत, शंकर ....समस्त नाटक (खण्ड–2), पृ.–129
6. वही, पृ.–124
7. Google.com/amp/s/www.jansatta.com/Sundaymagazine/jansatta article
8. कुकरेती सं. हेमंत, शंकर ....सम्पूर्ण साहित्य का अनुशीलन, पृ.–107
9. जाधव डॉ. संपतराव, ...सम्पूर्ण साहित्य का अनुशीलन, विनय प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं.–2017, पृ.–194.195
10. चौबे प्रो. सरयू प्रसाद, डॉ. अखिलेश, भारतीय शिक्षा की समस्याएँ, भवदीय प्रकाशन, फैजाबाद, संस्करण–2012, पृ.–80
11. कुकरेती सं. हेमंत, शंकर ......समस्त नाटक (खण्ड–2), पृ.–125
12. वहीं, पृ.–97
13. अग्रवाल डॉ. रंजना वर्दे, एक और द्रोणाचार्य एक मूल्यांकन, विमल प्रकाशन, कानपुर, प्र. सं.–2014, पृ,–26–27

■

शेष भाग पृष्ठ 108 पर

शिक्षा–दर्शन–चिंतन

मध्यकालीन भारत में

शिक्षा और दर्शन का स्वरूप

अरुण कुमार *

सर्वप्रथम इस्लामी शिक्षा का उद्देश्य मुसलमानों में ज्ञान बढ़ाना था। पैगंबर मुहम्मद के अनुसार, ज्ञान प्राप्त करना एक कर्तव्य है और इसके बिना कोई मुक्ति नहीं है। प्रत्येक मुस्लिम पुरुष और महिला के लिए ज्ञान प्राप्त करने की अनिवार्यता रखी गई है। इस्लाम में धार्मिक शिक्षा का प्रसार करना दूसरा लक्ष्य रखा गया है और इसे एक धार्मिक कर्तव्य के रूप में माना जाता है। शिक्षा के माध्यम से इस्लाम का प्रसार भारत में किये जानें का उल्लेख प्राप्त होता है। इस्लाम का प्रसार शिक्षा के माध्यम से हुआ। इस्लाम के मूल सिद्धांतों के बारे में ज्ञान देने के लिए मकतबो में कुरान कि शिक्षा बच्चों को दिया जाता था। पैगंबर मुहम्मद के अनुसार, शिक्षा से बढ़कर कोई अन्य उपहार नहीं है जो प्रत्येक अभिभावक अपने बच्चों को दे सके। उन्होंने कहा था कि एक विद्वान की स्याही एक शहीद के खून से भी अधिक शुद्ध होती है। इस्लामिक शिक्षा का तृतीय लक्ष्य इस्लाम के सिद्धांतों के अनुसार सद्गुणों को विकसित करना है। इसका चतुर्थ लक्ष्य भौतिक सुख प्राप्त करना था।

इस्लामिक शासन का सबसे बड़ा दोष यह था कि यह लोगों को उच्च पद प्राप्त करने के लिए प्रलोभित करता था। फलस्वरूप मुस्लिम शासक छात्रों को राज्य प्रशासन में सेनापति, काजी, वजीर आदि के पदों पर नियुक्त करते थे। इस काल में उच्च राजकीय पद प्राप्त करने के अभिलाषा में अनेक हिन्दूओं ने फारसी भाषा का अध्ययन किया, तत्पश्चात उन्हें उच्च प्रशासनिक पदों पर रखा गया, अंततः इस्लामी शिक्षा का लक्ष्य राजनीतिक उद्देश्यों और स्वार्थो से आत्म–प्रेरित था। मुसलमानों ने दूसरें देश कि भूमि पर अपनी राज्य–व्यवस्था, समाज और संस्कृति को मजबूती से संस्थापित करने के लिए शिक्षा रुपी साधन का प्रयोग किया जिससे कि वो भारत कि भूमि पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सके।

मध्ययुगीन शैक्षणिक– व्यवस्था को इस्लाम में रहस्यवादियों और धर्माचार्यों के द्वारा निर्देशित किया जाता था। जिसकें कारण शिक्षा संस्थाओ में धार्मिक

* संपर्क – शोधार्थी, ऐतिहासिक अध्ययन एवं पुरातत्त्व विभाग, दक्षिण बिहार केंद्रीय विश्वविद्यालय, गया, (बिहार), मो.–7011766176. ईमेल– arunkumarmonto1@gmail.com,

शिक्षा पर बल दिया जाता था। हजरत अब्दुल कुदुस गंगोही ने कहा था कि – ज्ञान का उद्देश्य जीवन में अपने कर्तव्यों का पालन करना है। शिक्षा के बगैर इस्लाम में किसी भी प्रकार से आस्था कि स्थापना नहीं हो सकती है। सभी प्रकार के ज्ञान का एक मात्र उद्देश्य ईश्वर का प्रेम अर्जित करना है और अपने जीवन के लक्ष्यों का पालन करना है।

राज्य प्रयोजन के तहत शिक्षा की उन्नतिः

जब मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया तो उस समय देश के कुछ–कुछ भागों पर ब्राह्मणों और बौद्धों कि शिक्षा प्रणाली स्थापित थी। महमूद गजनवी का एक मात्र उद्देश्य भारत के अकूत धन–सम्पदा को लूटना और उत्तर–पश्चिमी भाग में अपने साम्राज्य कि स्थापना और विस्तार करना था। 1192 में तराईन के द्वितीय युद्ध के उपरांत मुईजुद्दीन मुहम्मद गौरी ने भारत में इस्लामिक राज्य कि स्थापना किया तथा साम्राज्य विस्तार के दौरान कई मंदिरों और बौद्ध–विहारों को ध्वस्त करने का काम किया, साथ ही उसनें मंदिरों के ध्वंसावशेष पर अनेक मस्जिद और मकतबों कि स्थापना भी कराया। उसके सेनापतियों में से एक, मुहम्मद बख्तियार खिलजी ने बिहार में बौद्ध शिक्षा प्रणालियों को नष्ट कर कई मदरसों को निर्मित कराया था।

इल्तुतमिश और रजिया ने सरकारी खर्च पर विद्वानों को संरक्षण देने का कार्य किया था। सल्तनत कल का पहला सुल्तान इल्तुतमिश था जिसने इस्लामी शिक्षा को बढ़ावा देने के लिये दिल्ली में एक मदरसा स्थापित किया था जिसका नाम मदरसे मुईजी रखा था। जो कि मुहम्मद गौरी के नाम पर रखा गया था। अमीर खुसरो और अमीर हसन देहलवी बलबन के समकालीन थे और इन्होनें फारसी में अनेक पुस्तकें लिखने का कार्य किया था। दिल्ली के सुल्तानों ने इस्लामिक शिक्षा के लिए बहुत ही व्यवस्थित नीतियों का प्रावधान किया था। मुसलमानों के प्रत्येक बस्ती में दो मकतब होते थे। इसके अलावा मदरसों के माध्यम से उच्च शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। दिल्ली और मुल्तान में इल्तुतमिश के द्वारा एक–एक मदरसे कि स्थापना कि गयी थी।

नासिरिया मदरसा नसीरुद्दीन महमूद के काल में अपनीं लोकप्रियता के लिए जाना जाता था। जियाउद्दीन बर्नी ने प्रतिष्ठित विद्वानों की एक सूची का वर्णन किया है ये वे विद्वान थे, जिन्होंने दिल्ली के मदरसों में पढ़ाया था। विद्वानों के अलावा भी कई लोग थे जैसेः न्यायविद, चिकित्सक, ज्योतिषी, गणितज्ञ आदि, जिन्हें बलबन का राजकीय संरक्षण प्राप्त था। जब मंगोलों का आक्रमण हुआ था तब कई विद्वानों, कलाकारों ने दिल्ली में सुरक्षा हेतु शरण लिया था और बाद में दिल्ली के सांस्कृतिक जीवन को गौरवशाली बनाने में अपना योगदान किया था। तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वानों में शमशुद्दीन ख्वारिज्मी, बुरहानुद्दीन बजाज, नजमुद्दीन दमिश्क व कमालुद्दीन जाहिद को सम्मिलित किया गया था।

ज्ञातव्य है कि शैक्षणिक संस्थाएँ केवल अभिजात वर्ग के लिए थीं। इन संस्थाओं से आम लोगों को कोई लाभ नहीं हुआ। सल्तनत वंश के शासकों में खिलजी सुल्तानों ने शिक्षा के विकास पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया, जिसके कारण शिक्षा का पर्याप्त विकास भी नहीँ हो पाया केवल जलालुदीन खिलजी ने शिक्षा के प्रसार में थोड़ी रूचि दिखलाई और संस्कृत के अध्ययन को प्रोत्साहित करने का कार्य किया था।

अलाउद्दीन खिलजी जैसे शासकों ने शिक्षा के लिए जो धन आवंटित किये थे, उस धन को सैन्य–संरक्षण के विकास पर खर्च किया था, लेकिन जैसे ही उसकी मृत्यु होती है बाद के खिलजी शासकों द्वारा अपनें प्रजा–कल्याण के लिए शिक्षा के विकास पर धन व्यय करने का उचित प्रबंध किया गया था। तत्कालीन इतिहासकार जियाउद्दीन बर्नी ने लिखा है कि अलाउद्दीन के शासन–काल में दिल्ली में विद्वानों और कलाकारों का दूसरें देशों से निरंतर आगमन व निवास करने के कारण राजधानी कि तुलना बगदाद, काहिरा और कुस्तुन्तुनिया के साथ की जानें लगी थी।

फरिश्ता ने कहा है कि अलाउद्दीन के शासन काल में विभिन्न विश्वविद्यालयों में 45 विद्वान जो कला और विज्ञान के विशेषज्ञ थे, इन विश्वविद्यालयों में अध्यापन कराते थे। अब्दुल–हक–हक्की द्वारा उल्लेखित है कि अलाउद्दीन के शासन के दौरान दिल्ली विदेश से आये विद्वानों एवं महापुरुषों के परस्पर मुलाकात करने का एक अति प्रतिष्ठित केंद्र के रूप में प्रसिद्ध हो चूका था। अलाउद्दीन खिलजी ने हौज–ए–खास के समीप ही एक मदरसा भी बनवाया था। तुगलक वंश के शासकों द्वारा शिक्षा के प्रचार–प्रसार पर अधिक ध्यान दिया गया। गयासुद्दीन और मुहम्मदबिन तुगलक स्वयं उच्च कोटि के विद्वान थे और उन्होंने विद्वानों को प्रोत्साहित किया, जिससे शिक्षा का उचित व पर्याप्त विकास हो सके।

मुहम्मदबिन तुगलक ने कई कवियों, दार्शनिकों और चिकित्सकों को संरक्षण दिया। वह हमेशा ही समय–समय पर उनके साथ आध्यात्मिक चर्चाओं में भाग लेता था। दिल्ली तत्कालीन समय में शिक्षा का मुख्य केन्द्र था। जब मुहम्मदबिन तुगलक ने राजधानी स्थानान्तरण का कार्य किया तो इससे शिक्षा कि अपूर्णीय क्षति हुई। फरिश्ता के अनुसार मुहम्मदबिन तुगलक के हरम में अरब, जॉर्जियाई, तुर्क, यूरोपीय, अफगानी, चीनी, राजपूत, बंगाली, गुजराती, जैसे कई देशों की महिलाएं थी, जिनसे वह उन्हीं के भाषाओं में बात करता था। इससे ज्ञात होता है कि तुगलक काल में स्थानीय भाषाओं का भी पर्याप्त विकास हुआ होगा। 1346 ई० में मुहम्मदबिन तुगलक के द्वारा दिल्ली में एक मदरसा स्थापित किया गया था और इस मदरसे कि प्रशस्ति प्रसिद्ध कवि बद्र–चच के द्वारा लिखी गई थी।

सल्तनत–काल के सर्वाधिक जनप्रिय साहित्कारों में मौलाना मुइनुद्दिन

उमरानी का नाम आता है। तुगलक वंश के शासकों में फिरोज तुगलक ने विद्वानों को शिक्षा के क्षेत्र में अपना विशिष्ट योगदान देने पर वजीफा देने का भी कार्य किया था। फिरोजशाह तुगलक के काल में शिक्षा के दृष्टिकोण से दिल्ली एक प्रसिद्ध शिक्षालय के रूप में संस्थापित हो चूका था। मुहम्मदबिन तुगलक के द्वारा तत्कालीन समय में एक ऐसा कारखाना स्थापित कराया गया था जिसमें राजमहल कि आवश्यकता से सम्बंधित सभी प्रकार कि वस्तुएँ तैयार करायी जाती थी।

मध्यकालीन भारत को जानने का यह एक प्रमुख साधन है। अल्क्ल्का–शन्दी कि मृत्यु 1418 में काहिरा में हुई थी। सैय्यद वंश के सुल्तानों के काल में बदायूँ शिक्षा का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। सरकार विद्वानों को अनुदान देकर शिक्षा को बढ़ावा देनें का कार्य करती थी। सिकन्दर लोदी के द्वारा शिक्षा के प्रसार हेतु अनेक कारगर प्रयत्न किये गये थे। सिकन्दर ने शिक्षा को बढ़ावा देने हेतु आगरा को अपनी राजधानी बनाया था। जो कालान्तर में शिक्षा का एक प्रसिद्ध केन्द्र बन गया था।

सिकन्दर लोदी के द्वारा चिकित्सा पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'तिब्बे–सिकंदर–शाही' तैयार कराया गया था। इसे भारत और खुरासान के प्रसिद्ध चिकित्सकों के ज्ञानात्मक सहयोग से तैयार कराया गया था। सिकंदर लोदी ने अपने सैन्य अधिकारियों के लिए साहित्यिक शिक्षा को अनिवार्य बनाकर शिक्षा को प्रश्रय देने का कार्य किया था। सिकंदर लोदी ने अपनें साम्राज्य के अन्य भागों में अनेक मदरसे खोले और योग्यता वाले योग्य शिक्षकों की नियुक्ति किया था। सिकंदर लोदी ने मथुरा और मारवाड़ में भी अनेक मदरसों का निर्माण कराया था। जहां सभी समुदायों के नागरिक भेदभाव रहित होकर शिक्षा ग्रहण करते थे।

सिकंदर तर्कशास्त्र में रुचि रखता था। परिणामतः इस विषय को पढ़ाने के लिए उसने दो उलेमा भाइयों अब्दुल्ला और शेख अजीजुल्लाह को आमंत्रित किया था और दोनों को दो विभिन्न मदरसों में नियुक्त किया था। सिकन्दर लोदी इन विद्वानों से काफी प्रभावित था। वह इन विद्वानों का व्याख्यान प्रायः सुनने के लिए उनकें मदरसों में जाता था। इन विद्वानों की योग्यता ने विषयों को लोकप्रियता प्रदान करने का काम किया। शेख अब्दुल्ला के विद्वता से प्रभावित होकर उसके 40 शिष्य हो गये थे, जिनमें से मियां लड्डन, जमाल खान देहलवी, ग्वालियर के मियां शेख और बदायूँ से मियां सैय्यद जलाल प्रमुख थे। फिरोज तुगलक के दिवंगत होने के उपरांत दिल्ली सल्तनत का पतन प्रारंभ हो गया, साथ ही स्थानीय शासकों को सफल होने का मार्ग भी प्रशस्त हो गया। तैमूर के आक्रमण के भय से विद्वानों ने छोटे–छोटे राज्यों के राजधानियों में शरणस्थल खोजने प्रारंभ कर दिये।

दक्षिण भारत में बहमनी साम्राज्य ने कई मकतब और मस्जिदें बनाईं। उस समय के एक प्रसिद्ध विद्वान सैय्यद मुहम्मद गेसूदराज ने अहमद शाह (1422–35)

के सम्मान में गुलबर्गा में एक मदरसा खोला। इस मदरसे के खर्च हेतु बहुत से शहरों और गांवों की आय निर्धारित कर दी गई। मुहम्मद शाह (1463–82) का वजीर महमूद गवां द्वारा विदर्भ में 1472 में एक बड़ा मदरसा बनवाया गया था, इस मदरसे के पुस्तकालय में हजारों बहुमूल्य पुस्तकें थीं। मकतबों को गाँवों में भी खोला गया था। तत्कालीन समय में शिक्षा के लिए बीजापुर, गोलकुंडा, मालवा, जौनपुर, मुल्तान, गुजरात और बंगाल शिक्षा के प्रमुख स्थान थे।

जौनपुर साहित्य और कला में उच्च शिक्षा के लिए प्रसिद्ध था। इब्राहीमशाह शर्की (1402–80) के शासनकाल में कई विद्वान जौनपुर में रहते थे। मालवा के सुल्तान गयासुद्दीन (1469–1500) ने एक महिला शिक्षक को हरम की महिलाओं को शिक्षा देने के लिए नियुक्त किया था।

हुसैन शाही वंश के शासकों ने बंगाल में हिंदू और मुस्लिम शिक्षा के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। बंगाल कि जनता ने कई शिक्षण संस्थानों की स्थापना की और सरकार से धन सरकार प्राप्त करके उसे संचालित करने का कार्य किया। बंगाल का सुल्तान नासिर शाह ने बंगाली भाषा में महाभारत का अनुवाद कराया था।

मुगल शासक बाबर कवि, विद्वान व बहुमुखी प्रतिभा का धनी व्यक्ति था। बाबर की आत्मकथा 'बाबरनामा' एक अनूठी पुस्तक है। उसनें अपने छोटे से शासनकाल में शिक्षा के प्रसार में कुछ विशेष नहीं कर सका, क्योंकि वह बहुत ही कम समय ही शासन कर पाया। बाबर के वजीर मकबर अली ने लिखा है कि मदरसों और मकतबों का निर्माण 'शुहरते आम' द्वारा किया जाता था। खावंदामीर और शेख जैन रब्बाफी बाबर के दरबार में निवास करने वाले प्रसिद्ध विद्वान थे। मध्यकाल में हुमायूं ने दिल्ली में एक बड़ा मदरसा बनाया, जिसके प्रमुख शेख हुसैन थे। उसनें दिल्ली में एक पुस्तकालय का निर्माण कराया था तथा शेरशाह का जो विश्राम–स्थल था, उसे भी एक पुस्तकालय में परिवर्तित कर दिया।

हुमायूँ के मकबरे में एक मदरसा भी खोला गया था। वह स्वयं भूगोल, गणित और ज्योतिष में दिलचस्पी रखती थी। शेरशाह के द्वारा नारनौल में एक मदरसा का निर्माण कराया गया था। वहाँ हर कोई शिक्षित हो सकता था। हुमायूँ की मृत्यु के बाद अकबर ने शिक्षा को बढ़ावा देने का कार्य किया था। अकबर अशिक्षित था, लेकिन उसके कार्यकाल के दौरान शिक्षा के हर क्षेत्र में प्रगति हुई। अकबर ने विद्वानों को संरक्षण प्रदान करने का कार्य किया था। उसने विद्वानों को सरकार के तरफ से छात्रवृत्तियाँ और जागीरें देकर शिक्षा को प्रश्रय देनें का कार्य किया था। वह हर धर्म के विद्वानों को प्रेरित करने का कार्य करता था। अकबर ने अबुल फजल की सलाह से शिक्षा के विस्तार के लिए पाठ्यक्रम और नियमावली बनाए। अकबर ने पुरानी शिक्षा व्यवस्था को सुधार कर नवीन राजकीय दिशा निर्देश जारी किए थे।

अकबर की शिक्षा नीति को तत्कालीन समय के एक प्रसिद्ध विद्वान

फतुल्लाह शिराजी ने प्रभावित करने का कार्य किया था। बीजापुर के शासक अली आदिलशाह के निमंत्रण पर वह दक्षिण भारत गया था। जब अली आदिलशाह की मृत्यु हो गई तब अकबर ने विद्वान फतुल्लाह शिराजी को आमंत्रित कर उसे सदर के सम्मानित पद पर आसीन कराया। वह अनेक विषयों का प्रकाण्ड विद्वान था। लेकिन दर्शनशास्त्र एवं मकुलात का विशेषज्ञ था। अकबर, मुगल साम्राज्य के सबसे प्रबुद्ध और दूरदर्शी शासकों में से एक थे, जिन्होंने अपनी शिक्षा नीति और प्रशासनिक सुधारों के माध्यम से भारतीय उपमहाद्वीप में स्थायी प्रभाव डाला। उनकी शिक्षा नीति केवल धर्म या परंपरा तक सीमित नहीं थी, बल्कि उसमें विभिन्न धर्मों और वैज्ञानिक विचारों के साथ एक समग्र दृष्टिकोण का समावेश था। इस नीति को विकसित करने में उनकी सभा के प्रमुख विद्वानों ने योगदान दिया। इनमें से फतुल्लाह शिराजी का नाम विशेष महत्त्व रखता है।

फतुल्लाह शिराजी का जन्म फारस में हुआ था। वे अपनी विद्वत्ता, तर्कशास्त्र, गणित, खगोलशास्त्र और दर्शन के क्षेत्र में अपनी विशेषज्ञता के लिए प्रसिद्ध थे। शिराजी ने न केवल अपने समय के प्रमुख ग्रंथों का अध्ययन किया बल्कि अपनी गहन समझ और मौलिक विचारों से विद्वानों और शासकों को प्रभावित किया। बीजापुर के शासक अली आदिलशाह ने उन्हें अपने दरबार में बुलाया, जहां उन्होंने कई शैक्षिक और सांस्कृतिक परियोजनाओं का नेतृत्व किया। बीजापुर में अपने समय के दौरान, फतुल्लाह शिराजी ने दक्षिण भारत के सांस्कृतिक और बौद्धिक क्षेत्र में क्रांति की। उन्होंने गणित और खगोलशास्त्र में कई प्रमुख योगदान दिए। उनके तर्कशास्त्र और मकुलात (तार्किक विचारधारा) पर आधारित लेखन ने स्थानीय विद्वानों और छात्रों को नई दृष्टि प्रदान की।

हालांकि, अली आदिलशाह की मृत्यु के बाद, शिराजी का बीजापुर दरबार से नाता टूट गया। यह समय उनके जीवन में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ साबित हुआ। जब अकबर को उनकी योग्यता का पता चला, तो उन्होंने फतुल्लाह शिराजी को अपने दरबार में आमंत्रित किया। अकबर ने शिराजी को न केवल आमंत्रित किया, बल्कि उन्हें 'सदर' के सम्मानित पद पर आसीन किया। सदर का पद उस समय न्याय और शिक्षा के क्षेत्र में सर्वोच्च था। शिराजी ने इस भूमिका में रहते हुए अकबर की शिक्षा नीति में कई क्रांतिकारी बदलाव लाए। वे अकबर के 'सुलेह–कुल' (सार्वभौमिक सहिष्णुता) के सिद्धांत के भी प्रबल समर्थक थे। उनके विचारों ने अकबर के प्रशासनिक सुधारों और विशेष रूप से शिक्षा नीति को गहराई से प्रभावित किया। अकबर की शिक्षा नीति का उद्देश्य केवल धार्मिक शिक्षा तक सीमित नहीं था, बल्कि उसका ध्यान वैज्ञानिक और तार्किक सोच को बढ़ावा देने पर भी था। शिराजी ने अकबर की इस सोच को स्पष्ट दिशा प्रदान की। उनके योगदान निम्नलिखित रूप में देखे जा सकते हैं–

शिराजी ने शिक्षा प्रणाली में तार्किक और वैज्ञानिक विषयों को जोड़ने पर जोर दिया। वे मानते थे कि किसी भी समाज की प्रगति का आधार उसकी

वैज्ञानिक और बौद्धिक क्षमता होती है। उनके नेतृत्व में अकबर के दरबार में खगोलशास्त्र और गणित के अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया गया। शिराजी का दर्शन अकबर की धर्मनिरपेक्ष नीति के अनुरूप था। उन्होंने यह सुनिश्चित किया कि शिक्षा प्रणाली में सभी धर्मों के विचारों और परंपराओं का समावेश हो। इसका प्रभाव 'दीन–ए–इलाही' की स्थापना और शिक्षा के माध्यम से सहिष्णुता को बढ़ावा देने के रूप में देखा गया।

फतुल्लाह शिराजी ने संस्कृत और अरबी ग्रंथों के अनुवाद में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनके प्रयासों से भारतीय और इस्लामिक ज्ञान परंपरा के बीच संवाद स्थापित हुआ। उदाहरण के लिए, उन्होंने संस्कृत के खगोलशास्त्र और गणित के ग्रंथों का अरबी और फारसी में अनुवाद किया। अकबर के शासनकाल में फतुल्लाह शिराजी ने शिक्षकों के प्रशिक्षण पर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने यह सुनिश्चित किया कि शिक्षक न केवल विषय के ज्ञाता हों, बल्कि शिक्षण में नैतिकता और सहानुभूति का भी समावेश करें। फतुल्लाह शिराजी ने दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय योगदान दिया। उनके विचार इस्लामिक दर्शन के साथ भारतीय दर्शन को जोड़ने का प्रयास करते थे। वे मानते थे कि सत्य का अनुसंधान विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जा सकता है, और इसके लिए खुले मन और सहिष्णुता की आवश्यकता होती है।

अकबर और शिराजी का संबंध केवल एक शासक और विद्वान का नहीं था, बल्कि यह ज्ञान और शक्ति के मिलन का प्रतीक था। शिराजी ने अकबर के विचारों को संरचनात्मक रूप दिया और अकबर ने उन्हें अपने विचारों को लागू करने की स्वतंत्रता दी। यह साझेदारी भारतीय शिक्षा और दर्शन के इतिहास में एक अद्वितीय अध्याय है। फतुल्लाह शिराजी की विद्वत्ता और अकबर की दूरदृष्टि ने भारतीय उपमहाद्वीप की शिक्षा और संस्कृति को नई दिशा प्रदान की। शिराजी का प्रभाव न केवल अकबर की शिक्षा नीति में, बल्कि उस समय की सोच और संस्कृति में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उनका जीवन इस बात का प्रमाण है कि सच्चा ज्ञान सीमाओं और परंपराओं से परे होता है।

अकबर और शिराजी के विचार आज भी प्रासंगिक हैं। उनकी साझेदारी हमें सिखाती है कि शिक्षा का उद्देश्य केवल जानकारी का प्रसार नहीं, बल्कि समाज के विकास और समृद्धि के लिए एक ठोस आधार प्रदान करना होना चाहिए।

■

शिक्षा–दर्शन–चिंतन

उपनिषदों में आनन्द तत्व

सुनीता देवी*

उपनिषदों में आनंद तत्त्व को परम सुख और ब्रह्म के वास्तविक रूप के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह तत्त्व उस आत्मिक अनुभव को दर्शाता है जो व्यक्ति तब प्राप्त करता है जब वह ब्रह्म और आत्मा के बीच के अद्वितीय संबंध को समझता है। आनंद तत्त्व केवल भौतिक सुखों से परे है और यह आत्मा का स्वाभाविक गुण है। उपनिषदों में इसे आत्मा के असली स्वरूप के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसे व्यक्ति तब अनुभव करता है जब वह मानसिक और भौतिक बंधनों से मुक्त होकर आत्मज्ञान की ओर अग्रसर होता है।

आनंद तत्त्व के प्रमुख शब्द–

1. आनंद (Ananda) : सुख, खुशी, आत्मिक संतोष।
2. ब्रह्म (Brahman) : परम सत्य, निराकार, अचिंत्य और अपरिभाष्य ईश्वर।
3. आत्मा (Atman) : व्यक्तिगत आत्मा, जो ब्रह्म का अंश है।
4. माया (Maya) : संसार का भ्रम, जो वास्तविकता को छुपाता है।
5. मोक्ष (Moksha) : आत्मा का ब्रह्म में विलीन होना, मुक्त होना।
6. योग (Yoga) : आत्मा और ब्रह्म के मिलन का साधना या मार्ग।
7. स्वात्मानंद (Svatmananda) : आत्म के भीतर का आनंद, आत्मा का स्वाभाविक आनंद।
8. सच्चिदानंद (Sat-Chit-Ananda) : अस्तित्व (सत), चेतना (चित) और आनंद (आनंद) का मिलन, जो ब्रह्म का स्वरूप है।

इस प्रकार, उपनिषदों में आनंद तत्त्व का सार यह है कि यह आत्मा और ब्रह्म के अद्वितीय संबंध और एकत्व के अनुभव से उत्पन्न होने वाला सच्चा, स्थायी सुख है।

उपनिषदों में आनंद तत्त्व का परिचय

उपनिषदों में आनंद तत्त्व (Ananda Tattva) को अत्यंत महत्वपूर्ण और गूढ़ दार्शनिक सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'आनंद' का अर्थ है शुद्ध सुख,

* संपर्क – सहायक प्रोफेसर, बुद्ध विद्यापीठ पी.जी. कॉलेज, सिद्धार्थ नगर, उत्तर प्रदेश।

संतोष या आनंद की स्थिति, जो न केवल भौतिक सुखों से परे है, बल्कि यह आत्मा और ब्रह्म के अद्वितीय संबंध से उत्पन्न होता है। उपनिषदों के अनुसार, परम आनंद वह स्थिति है जिसे प्राप्त करने के बाद व्यक्ति हर प्रकार की मानसिक और भौतिक कठिनाईयों से मुक्त हो जाता है और एक अद्वितीय आत्मिक शांति का अनुभव करता है।

उपनिषदों का अर्थ :

उपनिषद वे संस्कृत ग्रंथ हैं जो वेदों के अंतिम भाग होते हैं और जिनमें आत्मा, ब्रह्म, और जीवन के वास्तविक सत्य के बारे में गहरी दार्शनिक चर्चा की जाती है। इन्हें 'वेदांत' (Vedanta) भी कहा जाता है, जिसका अर्थ है वेदों का अंत (अर्थात, वेदों की अंतिम शिक्षाएँ)। उपनिषदों में ब्रह्म (सर्वव्यापक चेतना) और आत्मा (व्यक्तिगत आत्मा) के बीच संबंध, आत्मज्ञान, मोक्ष (निर्वाण) और जीवन के उद्देश्य के बारे में गहरे विचार प्रस्तुत किए जाते हैं।

उपनिषदों के प्रमुख उद्देश्य होते हैं–

1. आत्म–ज्ञान : आत्मा और ब्रह्म के अद्वितीयता की समझ।

2. ध्यान और साधना : आत्म–साक्षात्कार और ध्यान के माध्यम से मोक्ष प्राप्ति की दिशा।

3. माया और ब्रह्म : संसार की माया (अज्ञान) और ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की पहचान।

तत्त्व की व्याख्या का अर्थ :

'तत्त्व' शब्द का अर्थ होता है 'सत्य' या 'वास्तविकता' और 'व्याख्या' का अर्थ है 'स्पष्ट करना' या 'विवरण देना'। इस प्रकार, 'तत्त्व की व्याख्या' का मतलब है सत्य या वास्तविकता का स्पष्टीकरण या उसका गहरा विश्लेषण करना। उपनिषदों और भारतीय दार्शनिकता में, तत्त्व का अध्ययन किया जाता है, जो जीवन, ब्रह्म, आत्मा और संसार की वास्तविकता को समझने का प्रयास है।

'तत्त्व की व्याख्या' विशेष रूप से यह बताने का प्रयास है कि :

1. ब्रह्म (सर्वव्यापक चेतना) और आत्मा (व्यक्तिगत आत्मा) के बीच का सम्बन्ध क्या है?

2. माया (दुनियावी भ्रम) और सत्य के बारे में क्या है?

3. ध्यान और योग के माध्यम से आत्मज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया क्या होती है?

इन दोनों शब्दों के संयोजन से हम समझ सकते हैं कि उपनिषदों में ब्रह्म, आत्मा और तत्त्व के बीच के गहरे संबंधों और तत्त्व की वास्तविकता को समझाने की प्रक्रिया को व्याख्यायित किया गया है।

आनंद तत्त्व के प्रमुख तत्व :

आनंद का स्रोत ब्रह्म है : ब्रह्म और आत्मा की एकता से उत्पन्न होने वाला आनंद, जो स्थायी और अडिग होता है।

आध्यात्मिक अनुभव : जब व्यक्ति अपनी इच्छाओं, अहंकार और माया से मुक्त होता है, तो वह ब्रह्म के साथ एकत्व का अनुभव करता है और यह अनुभव परम आनंद में परिवर्तित होता है।

आनंद और मोक्ष का संबंध : उपनिषदों में आनंद को मोक्ष की स्थिति के रूप में देखा गया है। मोक्ष का अर्थ है आत्मा का ब्रह्म से मिलन, जो कि सर्वोच्च आनंद का स्रोत है।

आध्यात्मिक आनंद : यह आनंद न तो किसी भौतिक वस्तु से प्राप्त होता है, न किसी बाहरी कारण से, बल्कि यह आत्मा और ब्रह्म के मिलन से भीतर से उत्पन्न होता है।

उपनिषदों में आनंद तत्त्व का महत्व : उपनिषदों में आनंद को ब्रह्म का एक गुण, आत्मा का सच्चा स्वरूप और मुक्ति (मोक्ष) का चरम उद्देश्य माना गया है। यह आनंद न केवल एक मानसिक स्थिति है, बल्कि यह आत्मज्ञान और आत्मा के परम सत्य को पहचानने का परिणाम है। जब व्यक्ति अपनी आंतरिक स्थिति को समझता है, तो वह इस सत्य को प्राप्त करता है और उसे स्थायी आनंद का अनुभव होता है।

आनंद तत्त्व की अवधारणा :

उपनिषदों में यह माना गया है कि ब्रह्म (ब्रह्मा) या परम सत्य का स्वभाव आनंद है। ब्रह्म, जो निराकार, अपरिवर्तनीय और सर्वव्यापक है, वह स्वयं आनंदमय है। यही आनंद तत्त्व प्रत्येक जीवात्मा (आत्मा) में निहित है। जब आत्मा और ब्रह्म के बीच का बंधन टूटता है और व्यक्ति आत्मज्ञान को प्राप्त करता है, तब उसे वास्तविक आनंद का अनुभव होता है। इस आनंद का कोई निश्चित रूप नहीं होता, क्योंकि यह मानसिक या भौतिक स्तर पर अनुभव होने वाली खुशी से कहीं अधिक गहरा, शाश्वत और आत्मिक होता है।

उपनिषदों में आनंद तत्त्व की व्याख्या :

उपनिषदों में आनंद तत्त्व (Ananda Tattva) का बहुत गहरा और महत्वपूर्ण स्थान है। आनंद तत्त्व का अर्थ होता है :सच्चा सुख' या 'परम आनंद', जो केवल भौतिक या मानसिक सुख से परे होता है। यह वह आनंद है जो ब्रह्म (सर्वव्यापक चेतना) के साथ एकता के अनुभव से उत्पन्न होता है। उपनिषदों में इसे आत्मा और ब्रह्म के अद्वितीयता और उनके मिलन से जुड़ा हुआ माना जाता है।

आनंद तत्त्व की व्याख्या का मुख्य विचार यह है कि :

आनंद का स्रोत ब्रह्म है :

उपनिषदों में यह कहा गया है कि परम सत्य, अर्थात ब्रह्म, स्वभाव से आनंदमय है। ब्रह्म का वास्तविक रूप आनंद ही है। जब व्यक्ति आत्मज्ञान प्राप्त करता है, तो वह इस आनंद तत्त्व को अनुभव करता है। यह आनंद न तो किसी

बाहरी वस्तु या परिस्थिति से आता है, बल्कि यह आत्मा और ब्रह्म के मिलन से उत्पन्न होता है।

आनंद और आत्मा का संबंध : 'आनंदमय्यं'

उपनिषदों में एक महत्वपूर्ण अवधारणा है, जिसका अर्थ है 'आनंद से परिपूर्ण।' इसे आत्मा (Atman) और ब्रह्म (Brahman) के स्वभाव के रूप में देखा गया है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप आनंद है और जब व्यक्ति आत्मा की सच्चाई को समझता है, तो वह परम आनंद का अनुभव करता है।

आनंद का अनुभूति और मोक्ष :

आनंद तत्त्व को उपनिषदों में मोक्ष (मुक्ति) से जोड़ा गया है। जब व्यक्ति अपने अहंकार, इच्छाओं और माया (भ्रम) से मुक्त होता है, तो वह ब्रह्म के साथ एकत्व का अनुभव करता है। इस एकत्व के अनुभव से वह परम आनंद प्राप्त करता है। यह आनंद स्थायी और अडिग होता है और यह भौतिक सुखों से बहुत ऊपर होता है।

छांदोग्य उपनिषद में आनंद तत्त्व :

छांदोग्य उपनिषद में आनंद तत्त्व की गहरी व्याख्या की गई है। यहाँ यह कहा गया है कि ब्रह्म और आनंद का गहरा संबंध है। ब्रह्म स्वयं आनंदमय है और जब व्यक्ति आत्मा के परम सत्य को जानता है, तब वह ब्रह्म में विलीन होकर आनंद का अनुभव करता है।

छांदोग्य उपनिषद में आनंद के बारे में बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है। यहां पर यह उल्लेख है कि आनंद ही ब्रह्म है और यह आनंद स्वयं आत्मा का रूप है। छांदोग्य उपनिषद के एक प्रसिद्ध श्लोक में कहा गया है : 'सहस्त्राक्षं हि सर्गेण आनन्दं परमं ब्रह्म' इसका अर्थ है कि परम आनंद ब्रह्म का स्वरूप है और यह आत्मा की मूल प्रकृति है।

तैत्तिरीय उपनिषद में आनंद तत्त्व :

तैत्तिरीय उपनिषद में भी आनंद तत्त्व पर विशेष ध्यान दिया गया है। यहाँ यह बताया गया है कि आनंद ही ब्रह्म का असली रूप है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानने पर ही व्यक्ति इस शुद्ध आनंद का अनुभव करता है। तैत्तिरीय उपनिषद में भी आनंद के बारे में विस्तार से चर्चा की गई है। यहां पर कहा गया है : 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इसका अर्थ है कि ब्रह्म ही आनंद है। जब व्यक्ति ब्रह्म को जानता है, तो वह आनंद का अनुभव करता है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण :

उपनिषदों में यह भी बताया गया है कि आनंद तत्त्व एक प्रकार की आंतरिक अनुभूति है, जो केवल बाहरी वस्तुओं या सुखों पर निर्भर नहीं होती। यह आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का प्रत्यक्ष रूप है। जब व्यक्ति आत्मा और ब्रह्म के मिलन को अनुभव करता है, तो वह एक अवर्णनीय, अपार आनंद का अनुभव करता है,

जिसे न तो शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है और न ही भौतिक सुखों से इसकी तुलना की जा सकती है।

उपनिषदों में आनंद तत्त्व का महत्व :

आनंद तत्त्व को उपनिषदों में केवल एक शारीरिक या मानसिक सुख के रूप में नहीं, बल्कि परम सत्य और आत्मज्ञान के अंतिम लक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह तत्त्व उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म के बीच के अद्वितीय और अटल संबंध को स्पष्ट करता है। जब व्यक्ति ब्रह्म को समझता है और आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचानता है, तब वह वास्तविक और शाश्वत आनंद का अनुभव करता है, जो संसार के सभी भौतिक सुखों से परे है।

उपनिषदों में आनंद तत्त्व का मनुष्य के जीवन में महत्व :

उपनिषदों में आनंद तत्त्व का गहरा और महत्वपूर्ण स्थान है और यह मनुष्य के जीवन को केवल भौतिक सुखों से कहीं अधिक विस्तृत और सार्थक बनाता है। आनंद तत्त्व का वास्तविक अर्थ न केवल सांसारिक सुखों से जुड़ा हुआ है, बल्कि यह आत्मा के शुद्ध और ब्रह्म के साथ एकात्म अनुभव से उत्पन्न होता है। उपनिषदों के अनुसार, सच्चा आनंद बाहरी दुनिया से नहीं, बल्कि आत्मा और ब्रह्म के मिलन से प्राप्त होता है। इस आनंद का अनुभव जीवन को एक नया दृष्टिकोण और उद्देश्य प्रदान करता है।

आनंद तत्त्व का मनुष्य के जीवन में महत्व :

आध्यात्मिक संतोष और शांति– उपनिषदों में आनंद को आध्यात्मिक संतोष और आंतरिक शांति के रूप में देखा गया है। जब व्यक्ति भौतिक सुखों के पीछे दौड़ता है, तो वह कभी संतुष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि ये सुख क्षणिक होते हैं। लेकिन जब वह आनंद तत्त्व के बारे में समझता है और आत्मा के शुद्ध रूप को पहचानता है, तो उसे वास्तविक शांति और संतोष का अनुभव होता है। यह शांति बाहरी परिस्थितियों से अप्रभावित होती है और केवल आत्मज्ञान के माध्यम से प्राप्त होती है।

आत्म–ज्ञान और आत्म–साक्षात्कार : उपनिषदों में आनंद तत्त्व को आत्म–ज्ञान से जोड़ा गया है। जब व्यक्ति आत्मा के असली स्वरूप को समझता है और ब्रह्म से अपनी एकता का अनुभव करता है, तो उसे परम आनंद की अनुभूति होती है। यह आनंद मानसिक और भौतिक सीमाओं से परे है। आत्मा का अनुभव करने के बाद व्यक्ति अपने भीतर एक अवर्णनीय आनंद और शांति महसूस करता है, जो उसके जीवन को एक नया उद्देश्य और दिशा देता है।

संसारिक दुखों से मुक्ति– आनंद तत्त्व का एक और महत्वपूर्ण पहलू यह है कि यह व्यक्ति को संसारिक दुखों और संघर्षों से मुक्ति की ओर अग्रसर करता है। उपनिषदों में यह सिखाया गया है कि जब व्यक्ति ब्रह्म के साथ एकत्व का अनुभव करता है, तो वह संसार के अस्थायी दुखों से मुक्त हो जाता

है। वास्तविक आनंद केवल ब्रह्म से जुड़ने से प्राप्त होता है, जो शाश्वत, अडिग और परिपूर्ण है। इस प्रकार, आनंद तत्त्व जीवन के दुखों और संघर्षों के पार जाने का एक मार्ग है।

मुक्ति (मोक्ष) की दिशा : उपनिषदों में आनंद तत्त्व को मोक्ष से भी जोड़ा गया है। मोक्ष का अर्थ है आत्मा का ब्रह्म के साथ विलीन होना, अर्थात् आत्मा का ब्रह्म में समाहित होना। जब व्यक्ति आत्मा और ब्रह्म के अद्वितीय एकत्व को अनुभव करता है, तब उसे मोक्ष प्राप्त होता है, जो जीवन का सर्वोत्तम उद्देश्य और आनंद है। मोक्ष में व्यक्ति संसार के भ्रम और माया से मुक्त हो जाता है, और वह आत्मा की वास्तविक स्थिति का अनुभव करता है, जो शुद्ध आनंद से परिपूर्ण होती है।

संसारिक जीवन में संतुलन और सहनशीलता : आनंद तत्त्व का जीवन में एक और महत्व यह है कि यह व्यक्ति को संतुलन, सहनशीलता और संयम सिखाता है। जब व्यक्ति शारीरिक और मानसिक स्तर पर संतुष्ट होता है, तो वह बाहरी संसार के उतार–चढ़ावों से अधिक प्रभावित नहीं होता। वह किसी भी स्थिति में शांति और संतोष बनाए रखने की क्षमता विकसित करता है। उपनिषदों में यह सिखाया गया है कि सच्चा आनंद भीतर से उत्पन्न होता है, और जब व्यक्ति अपनी आंतरिक स्थिति को समझता है, तो वह बाहरी दुनिया के भौतिक सुखों और दुखों से परे होता है।

मूल्य और उद्देश्य की स्पष्टता : आनंद तत्त्व व्यक्ति को जीवन के असली उद्देश्य और मूल्य को पहचानने में मदद करता है। जब व्यक्ति आत्मा और ब्रह्म के सत्य को समझता है, तो वह जानता है कि जीवन का असली उद्देश्य केवल भौतिक सुखों का संचय नहीं है, बल्कि आत्मा के वास्तविक रूप को पहचानना और ब्रह्म के साथ एकत्व स्थापित करना है। इस जागरूकता के साथ, व्यक्ति अपने जीवन में सही दिशा और उद्देश्य की ओर अग्रसर होता है।

निष्कर्ष :

उपनिषदों में आनंद तत्त्व की अवधारणा जीवन और ब्रह्म के परम उद्देश्य को प्राप्त करने का मार्ग है। यह सच्चा सुख केवल बाहरी दुनिया से नहीं आता, बल्कि यह आत्मा और ब्रह्म के मिलन से उत्पन्न होता है। आनंद तत्त्व का अनुभव केवल आत्मज्ञान और आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानने से होता है, जो आत्मा को शाश्वत आनंद की स्थिति में पहुंचाता है।

उपनिषदों में आनंद तत्त्व की व्याख्या हमें यह सिखाती है कि सच्चा सुख बाहरी वस्तुओं में नहीं, बल्कि आत्मा के भीतर ब्रह्म के साथ एकत्व के अनुभव में है। आनंद तत्त्व आत्मज्ञान और मोक्ष के मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति के लिए सर्वोत्तम लक्ष्य है, जो उसे शाश्वत और अभिन्न सुख प्रदान करता है।

उपनिषदों में आनंद तत्त्व का मनुष्य के जीवन में अत्यधिक महत्व है क्योंकि यह उसे आत्मिक शांति, संतोष और परम आनंद की दिशा में मार्गदर्शन करता है। भौतिक सुखों और दुखों से परे, यह आनंद आत्मा और ब्रह्म के मिलन से उत्पन्न होता है और यही सच्चा, स्थायी और शाश्वत आनंद है। उपनिषदों की शिक्षाओं के अनुसार, आनंद तत्त्व केवल एक मानसिक स्थिति नहीं, बल्कि यह जीवन का वास्तविक उद्देश्य और परम सत्य है, जिसे जानकर व्यक्ति अपने जीवन को उच्चतम स्तर पर जी सकता है।

संदर्भ सूची

1. स्वामी शिवानंद, आत्मानंद (Atmananda), "Ananda: The Ultimate Bliss", Divine Life Society,) : ऋषिकेश, उत्तराखंड, भारत
2. भगवान श्री शंकराचार्य, वेदांत सूत्र और आनंद तत्त्व, "Brahma Sutras" (शंकर भाष्य), Advaita Ashrama] कोलकाता, भारत
3. श्री आदिशंकराचार्य, तत्त्वबोध (Understanding the Nature of Reality), Advaita Ashrama,) : कोलकाता, भारत
4. श्री कृष्ण, भगवद गीता और आनंद, "Bhagavad Gita" (Chapter 9: Rajavidya Rajaguhya Yog), Gita Press, गोरखपुर, उत्तर प्रदेश, भारत
5. रामकृष्ण परमहंस ,आनंद सूत्र
   लेखक (Author) : (Ramkrishna Paramahamsa), "Ananda Sutra", Ramakrishna Math, बेलूर मठ, पश्चिम बंगाल, भारत
6. स्वामी विवेकानंद, आध्यात्मिक आनंद और योग,
   लेखक (Author): (Swami Vivekananda), "The Complete Works of Swami Vivekananda, Advaita Ashrama, कोलकाता, भारत.
7. स्वामी रामतीर्थ, तत्त्व ज्ञान और आनंद, "The Scientific Basis of Vedanta", Ram Tirtha Trust, दिल्ली, भारत
8. स्वामी विवेकानंद, आनंद और ब्रह्म, "Raja Yoga, Advaita Ashram कोलकाता, भारत.
9. सरस्वती वियोगी, उपनिषदों का रहस्य, Yoga Vidya Ashram, पुणे, महाराष्ट्र, भारत
10. स्वामी रामानंद तीर्थ, समाधि और आनंद, Ramanand Tirtha Ashram, पुणे, महाराष्ट्र, भारत

■

गिरीश रस्तोगी की रंग–दृष्टि

नेहा श्रीवास्तव *

डॉ. गिरीश रस्तोगी समकालीन हिंदी साहित्य कि एक प्रख्यात रंगकर्मी, निर्देशिका, नाट्य–आलोचक एवं लेखिका हैं। इनका जन्म उत्तर–प्रदेश के बदायूं शहर के फर्शोली मुहल्ले में एक संभ्रांत परिवार में हुआ था। हिंदी नाट्य जगत में गिरीश रस्तोगी एक ऐसा नाम है, जिन्होंने स्थानीय स्तर पर ही नहीं बल्कि राष्ट्रीय स्तर पर भी नाट्य–लेखन, आलोचना और प्रस्तुति–निर्देशन के द्वारा अपनी उपस्थिति दर्ज की। संघर्ष, शक्ति और जिजीविषा को इन्होंने अपनी जिन्दगी का मूल–मंत्र माना है। इनके जीवन को सजाने–संवारने तथा उन्हें आगे बढ़ाने में उनकी माँ का अप्रतिम योगदान रहा है। बदायूं जैसे दकियानूसी शहर जहाँ पर लड़कियों को ठेले पर पर्दा डालकर बाहर निकाला जाता था, ऐसी परिस्थिति में भी उनकी माँ उन्हें कवि सम्मेलनों में ले जाती और हजारों की भीड़ में कविता–पाठ के लिए मंच पर भेजती थी। गिरीश रस्तोगी की यह साहसिकता और साहित्य एवं रंगमंच के प्रति अगाध निष्ठा ही रही है कि जब लड़कियों को मंच पर नहीं लाया जाता था, उस समय ऐसे संकीर्ण समाज में भी इन्होंने उत्तर प्रदेश के आगरा कॉलेज में डॉ. राम गोपाल सिंह चौहान के निर्देशन में मंचित विष्णु प्रभाकर के नाटक 'सम्राट' की प्रस्तुति में नायिका का अभिनय किया। इनके मानसिक और बौद्धिक विकास का क्रम निरंतर देखने को मिलता रहा हैं। नाटक और रंगमंच के माध्यम से ये विश्वमानव को जोड़ना चाहती है। साहित्य–चिंतन, रंग–दृष्टि और रचनात्मक संवेदना का संतुलन इनकी रचना की मौलिकता रही है।

डॉ. गिरीश रस्तोगी के रचनात्मक जीवन की शुरुआत 1968 ई० से माना जाता है क्योंकि इनके कर्म और चिंतन की दो महत्त्वपूर्ण दिशायें– साहित्य और रंगमंच तथा लेखन और रंगकर्म यहीं से स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। गिरीश रस्तोगी ने हिंदी नाटक और रंगमंच को एक नई दिशा प्रदान करने के लिए 1968 ई० में गोरखपुर में 'रूपांतर नाट्य मंच' की स्थापना कर हिंदी रंगान्दोलन के विकास में एक नवीन क्रांति ला दी। 'रूपांतर नाट्य मंच' का गठन एक दृष्टि–संपन्न, प्रतिबद्ध और सर्जनात्मक आंदोलन की तरह रहा है। पूरी सरगर्मी से कलाकारों का चयन, उनकी आधुनिक रंग–चेतना, अभिनय–शैली और प्रस्तुतिकरण पद्धति में

संपर्क – शोधार्थी, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, पता – न्यू पीएच.डी गर्ल्स हॉस्टल, बीएचयू, जिला– वाराणसी – 221005, (उ.प्र.), दूरभाष – 9641381750

प्रशिक्षण, पूरे समाज की गंभीरता, साहित्यिक संवेदना, आधुनिक रंग–संवेदना और दो–ढाई घंटे की केवल नाट्य–संध्या तक ले आना एक युद्ध की तरह ही था। बहुत ही साधारण, स्थूल आलेखों से हटकर 'रुपान्तर' ने श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण साहित्यिक नाटकों का चयन किया ताकि साहित्य, रंगमंच, दर्शक, अभिनेता का एक घनिष्ठ संबंध बन पाए। प्रभाकर क्षेत्रिय अपने 'परस्पर पर्याय' में रूपांतर के विषय में लिखते हैं– "रूपांतर उनकी सृष्टि है। कहूँ वे उसकी माँ हैं। गोरखपुर जैसे छोटे शहर में उन्होंने सिर्फ नाटक की गतिविधि को ही जिलाए नहीं रखा वरन् वहाँ के पूरे परिवेश में एक सर्जनात्मक सक्रियता पैदा की और अब तक अनवरत यह क्रम जारी रखा। उन्होंने कोई 30–40 बड़े नाटक और उनके छोटे नाटकों का निर्देशन किया। कई प्रशिक्षण शिविर अनेक श्रेष्ठ रंगकर्मियों की संगोष्ठीयाँ करायीं। छोटी जगह पर ऐसे बड़े काम करने का कितना श्रेय मिलना चाहिए, यह शायद वे ही बता सकते हैं जिन्होंने वहाँ रहकर ऐसा सक्रिय सामूहिक कार्य इतने लम्बे समय से किया हो या उतनी ही संवेदनशीलता से उसका अध्ययन किया हो।"[1]

गिरीश रस्तोगी ने नाट्य–प्रस्तुतियों के माध्यम से नाटक को आम–आदमी के जीवन और परिवेश से जोड़ते हुए विशेष रूप से आम जनता की तरफ ध्यान आकर्षित करने का बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अपनी पहली नाट्य प्रस्तुति 'लहरों के राजहंस' (नि. गिरीश रस्तोगी एवं परमानन्द श्रीवास्तव) से 'रूपांतर' नाट्य मंच पर नए और सूक्ष्म सौन्दर्यबोध, रंग–मंचीय संकेतों, बिम्ब, लय, संगीत, दृश्य सज्जा और अभिनेता के रिश्तों पर महीनों श्रम किया है। हालाँकि इन सबके बावजूद प्रस्तुति असफल रही क्योंकि गोरखपुर एक पिछड़ा क्षेत्र था और महिला कलाकारों को उस समय मंच पर लाना एक दुष्कर कार्य समझा जाता था, लेकिन गिरीश रस्तोगी ने समाज के जड़ की मानसिकता के विरुद्ध लड़ाई लड़ी। सात–आठ महिला कलाकारों के साथ 50 से ज्यादा की टीम के नाट्यदल का अपने नेतृत्त्व में बाहर ले जाकर प्रदर्शन करना, इस शहर के वातावरण के अनुसार ही नहीं बल्कि कल्पना से भी परे था। लेकिन श्रीमती रस्तोगी ने 1975 से लगातार देश के विभिन्न भागों में अपनी प्रस्तुतियां 'रूपांतर' के माध्यम से लगातार करती रहीं। इनके 'रूपांतर–नाट्य मंच' ने अनेक रचनाओं व कृतियों की प्रस्तुति की हैं। 'लहरों के राजहंस', 'दूसरा दरवाजा', 'बादशाह गुलाम बेगम', 'बाकी इतिहास', 'हाथी', 'घोड़ा और चूहा', 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'कथा कोलाज', 'काफी हाउस में', 'इंतजार', 'कथा एक कंस की', 'यात्रा तीसरी बार', 'खड़िया का घेरा', 'इला', 'छिन्नमस्ता', 'शरीफ लोग', 'परिंदे', 'परमात्मा का कुत्ता', 'नहुष', 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'राग दरबारी', 'ध्रुवस्वामिनी','नहुष', 'जयदोल', 'और प्रार्थना', 'इला', 'नागमंडल', 'यशोधरा', 'कितना कुछ एक साथ', 'अभंग गाथा', 'नींद क्यों रात भर नहीं आती', 'आषाढ़ का एक दिन', 'अंधेर नगरी', 'कोर्ट मार्शल', 'कबीरा खड़ा बाजार में', 'खामोश अदालत जारी है', 'एक और द्रोणाचार्य', 'विदेशिया', 'मरणोपरांत', 'बकरी', 'जुलूस', 'अँधा युग', 'चन्द्रगुप्त', 'तांबे

के कीड़े', 'एक कंठ विषपायी', 'कोणार्क', 'आधे–अधूरे', 'हानूश', 'अब्दुला दीवाना' इत्यादि इनकी नाट्य रूपांतर एवं प्रस्तुतियां हैं। हिन्दी नाट्यरूपांतर के क्षेत्र में गिरीश रस्तोगी अपनी एक अलग पहचान रखती है। इनकी समग्र रचना पद्धति और जीवन के सभी धरातलों को देखने और आकलन करने पर ये अपने समकालीनों से अलग व्यक्तित्व के रूप में नजर आती हैं। गिरीश रस्तोगी 'नाट्यरूपांतरण' के विषय में अपने विचार व्यक्त करती हुई कहती हैं–" नाट्यरूपांतरण न गौण वस्तु है , न द्वितीय–तृतीय स्तर की चीज। वह भी सृजन है– एक मौलिक कृति का पुनर्सृजन, इसलिए उसका तात्पर्य किसी बनी–बनाई रचना को केवल इस्तेमाल करना नहीं है – उस रचना में अंतर्निहित दूरगामी सम्भावनाओं और कला एवं साहित्य के विलक्षण संबंध–सूत्रों को तलाशना, पिरोना और नवीन सौन्दर्यबोध के साथ बड़े समूह तक संप्रेषित करना है। लिखित शब्दों को दृश्यात्मक लय, टोन और भिन्न आकार देना है।"[2]

नाटक साहित्य की एक विधा है और रंगमंच एक कलारूप। जहाँ शब्द शाश्वत सौंदर्य को खोजते हैं। नाटक दृश्यात्मक होने के कारण एक ऐसी विधा है, जिसके लिए जितना अनिवार्य रंगमंच है, उतना ही जरूरी सही आलोचना–दृष्टि के साथ अध्यापन एवं चिंतन भी। गिरीश रस्तोगी की दृष्टि में – " नाटक विधा हिंदी नवजागरण और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का बहुत बड़ा और क्रन्तिकारी आधार बनीं। हमारा नाटक और रंगमंच लोकधर्मी और नाट्यधर्मी परम्पराओं से जुड़ा हुआ जहाँ चिंतन, दर्शन, आनंद और सौंदर्य से संबद्ध है, वहाँ लोकव्यवहार और मानव–स्वभाव से, जीवन के अनेक क्रिया–व्यापारों से जुड़ा है। पश्चिम की तरह अनुकरण और ट्रेजेडी का प्रतीक न होकर वह लोक का भावानुकीर्तन है। वह एक निश्चित दर्शन और संस्कृति का परिचायक है।"[3] डॉ. रस्तोगी मुख्यतः नवनाट्यांदोलन और रंगान्दोलन से जुड़ी रहीं है। 1970 ई० में इंग्लैंड के ब्रिस्टेल ऑफ ड्रामा और लन्दन में अध्ययन करने के साथ ही फ्रांस, जर्मनी, रोम, बेल्जियम, स्विटजरलैंड आदि देशों की यात्राएं कर अपने अनुभव को बढ़ाया। वहां के नाट्य प्रदर्शन के द्वारा इन्होंने रंगमंच को काफी नजदीक से समझा एवं इन प्रस्तुतियों में शास्त्रीय शैली, मुक्ताकाशी मंच, लोकशैली, यथार्थवादी शैली, एकल अभिनय शैली का नवीन प्रयोग भी किया। साहित्यिक संवेदना, समझ और वैचारिकता इनके व्यक्तित्व के प्रमुख लक्षण है। अपने निर्देशन में इन्होंने आतंरिक यथार्थ एवं भीतरी तह को पकड़ने की कोशिश की है।

डॉ. रस्तोगी अपने अध्यापकीय दायित्त्व का बखूबी निर्वहन करती हुई हिंदी– साहित्य की विभिन्न विधाओं– समीक्षा, संपादन, मौलिक नाटक, नाट्यान्तर, शोध एवं संपादन, संस्मरण, लेख इत्यादि पर लगातार कार्य करती रहीं। इन्होंने कुछ मौलिक नाटकों की रचना की है, जिनमें 'असुरक्षित', 'अपने हाथ बिकानी', 'नहुष', 'मुझे मत मारो', तथा 'आरम्भ' हैं। इन्होंने अपने असुरक्षित नाटक में नाटक की सामयिक स्थितियों और मानवीय स्थिति के मार्मिक–चित्रण और उच्चरित भाषा को नाटक का मूलस्वर के रूप में प्रस्तुत किया हैं। इनका 'नहुष' नाटक

मैथिलीशरण गुप्त के एक संक्षित काव्य नहुष पर आधारित है। इन्होंने नहुष के चरित्र, उसकी परिस्थितियों, उसके उन्माद–अहंकार–प्रमाद और उसकी अनंत महत्त्वाकांक्षाओं को वर्तमान विश्वव्यापी परिस्थितियों, शासन–व्यवस्था तथा उसे भोगते शासकों के लिए संकेत के रूप में देखा और प्रस्तुत किया है। नहुष के व्यक्तित्व–विकास, उसके स्खलन के कारणों, आत्ममंथन और मनुष्यत्व की विजय पर आधारित कर इस प्राचीन कथानक को लेखिका ने एक ऐसा अर्थपूर्ण आयाम दिया है कि नहुष का रंगमंचीय रूप हमारे आज के जीवन सन्दर्भों से अनायास ही जुड़ गया। 'अपने हाथ बिकानी' एक पूर्णकालिक नाटक है जिसमें इन्होंने दोहरी मानसिकता के समाज और परिवार का चित्रण किया है जिसके विरुद्ध एक स्त्री का ऐसे समाज के प्रति मोहभंग और विद्रोह का सजीव चित्रण उभर कर सामने आया है।

गिरीश रस्तोगी के पूरे रंगकर्म का आकलन करना बहुत कठिन है, क्योंकि वे मात्र नाट्य–निर्देशक ही नहीं है, बल्कि नाट्यालोचक, नाट्य–प्रशिक्षक और अनवरत प्रयोगशील अन्वेषी भी हैं। नाटक जैसी सशक्त और जटिल विधा के आंतरिक सूत्रों और रंगमंच से संबद्ध बाह्य सूत्रों के अंतःसंबंध और इनकी स्वतंत्र सत्ता एवं नाट्य विधा की जटिलता के प्रति सूक्ष्म–दृष्टि अर्थात् आलोचना–दृष्टि को नए रूप में प्रस्तुत करने में प्रो. गिरीश रस्तोगी ने बीसवीं सदी की एक महत्त्वपूर्ण नाट्य आलोचक के रूप में अपना योगदान दिया है। बीसवीं सदी के नाटकों का सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। राष्ट्रीय चेतना के विकास और स्वतंत्रता आन्दोलन में नाट्य–जगत की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है तथा नाटकों की दिशा निर्धारण में नाट्यालोचना के क्षेत्र में भी इनका अप्रतिम योगदान देखने को मिलता हैं। भारतेंदु और जयशंकर प्रसाद की भाँति ही गिरीश रस्तोगी ने अपने समय की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए नाट्य–जगत का पथ का प्रदर्शन किया। ये नाट्य–समस्यायों के प्रति सदैव सतर्क और सचेष्ट रही है। वह इनसे जुड़े सवालों पर अपनी स्थापनाओं और मान्यताओं से लोगों को अवगत कराती रहीं है। हिंदी आलोचना और हिंदी नाट्यालोचना के अंतःविरोधों के प्रश्नों पर अपना मंतव्य व्यक्त करते हुए कहती हैं– "नाट्य–साहित्य और नाट्य–समीक्षा को छोड़कर हिंदी आलोचना सम्पूर्ण कहाँ है, क्योंकि वह अपना सबसे सशक्त और प्रत्यक्ष माध्यम तो छोड़े रहती है। नाट्य लेखन, नाटककार, नाट्य–समीक्षा की समस्याओं पर हिंदी का "प्रमुख" आलोचक मौन है अथवा उसका कोई सरोकार नहीं है। संभवतः यह इसलिए हुआ क्योंकि नवनाट्य के साथ ही वस्तुतः रंगकर्म और नवनाट्य समीक्षा के संबंध की स्थिति पैदा हुई। इससे पहले नाटक केवल लिखित साहित्य और आगे चलकर केवल पाठ्यक्रमीय वस्तु मात्र था। यह अपने में एक अहम् सवाल है कि नाटक भी सबकी चिंता और चिंतन का विषय है जैसे कि कविता और कथा साहित्य। नाटक का दृश्यात्मक सौन्दर्य और मौलिकता तो जिज्ञासा और कौतूहल का विषय है, भय और कौतुक का नहीं। खामोशी और दूरी, मृत्यु का लक्षण है। साहित्यकार

अगर केवल अपनी चिंता करे, रंगकर्मी केवल अपनी और समीक्षक केवल अपनी तो इस विस्मिकरण से नाटक जैसी साक्षात्कार की विधा का क्या रूप बनेगा? समस्या दर्शक की नहीं है, दर्शक को बनाने में तीनों के समीकरण की अपेक्षा है।"[4]

हिंदी में नाट्य आलोचना के सवाल गहराई और विस्तार की मांग करते है साथ ही रंग–मंच और रंग–समीक्षा की भी। इन्होंने नाट्य–आलोचना को हिंदी साहित्य में अत्यंत आवश्यक मानते हुए उसे शीर्ष तक पहुँचाने में हरसंभव प्रयास किया है। गिरीश रस्तोगी इस विषय पर अपनी पुस्तक में लिखती हैं– "भाषा और संस्कृति, भाषा और समाज की समग्रता, साहित्य और संस्कृति की क्लासिकल संवेदना को जीवंत और गतिमान रखने के लिए आज नए नाट्य–चिंतन की जरूरत है। नई शब्द–संस्कृति और वैश्विक संदर्भ में जीवनानुभव से मनुष्य की गहरी समझ से रची हुई भाषा नए आधार, चिंतन चाहती है। नाटक में तो सबकुछ है– काव्य, कथा, ज्ञान–विज्ञान, कला, दर्शन, परम्परा, संस्कृति, प्रतिपल सृजन की चुनौती और इनके साथ आज के मनुष्य का यानी जीवित मनुष्य का वैचारिक द्वन्द्व।"[5] इन्होंने कई आलोचनात्मक ग्रंथों की सृष्टि की जिनमें प्रमुख रूप से 'रंगभाषा', 'नाट्यचिंतन और रंगदर्शन–अंतर्संबंध', 'हिंदी नाटक और रंगमंच' 'नयी दिशायें नए प्रश्न', 'नाटक और रंग परिकल्पना', 'आधुनिक हिंदी नाटक', 'बीसवी शताब्दी का हिदी नाटक और रंगमंच', 'हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष', 'हिंदी नाटक – सिद्धांत और विवेचन', 'मोहन राकेश और उनके नाटक', 'समकालीन हिंदी नाटककार', 'समकालीन हिंदी नाटक की संघर्ष चेतना', 'भुवनेश्वर', 'हिंदी कहानी–सिद्धांत और विवेचन', 'आधुनिक हिंदी नाटक', 'प्रसाद का कथा साहित्य', 'मुक्तिबोध और अँधेरे में', 'भारतेंदु हरिश्चंद्र और अंधेर नगरी', 'उदयशंकर भट्ट' आदि इनकी आलोचकीय कृतियाँ हैं। 'रंगभाषा' इनकी अकेली ऐसी पुस्तक है जो सर्जनात्मक जिजीविषा एवं नाट्यानुभवों का प्रबल प्रमाण है। इसे शब्द और कर्म, रंगचिंतन और प्रयोगशील सृजन की सारस्वत साधना माना गया है तथा इसमें समूचा भारतीय परिदृश्य है नाट्यशास्त्र की, लोकनाट्य की, साहित्य और कलाओं की, विश्वसंदर्भों चिंतन–परम्पराओं, आधुनिकतम प्रश्नों की। 'बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाटक और रंगमंच' पुस्तक ऐतिहासिक दृष्टि, सर्जनात्मक चेतना और रंग–चिंतन की गंभीरता के प्रतिमान के रूप में देखा जाता हैं। साथ ही अनेक हलचलों, आंदोलनों, अन्वेषणजन्य नये–नये प्रयोगों और नाट्यालोचना की व्यापक–दृष्टि एवं अंतर्विरोधों से भरा हुआ है। 'हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष' में नाटक और रंगमंच के पूरे इतिहास को नये सिरे से समसामयिक चिंतन एवं काव्यात्मक संवेदना के साथ प्रस्तुत किया है। 'नाटक एवं रंग–परिकल्पना' पुस्तक में हिंदी रंगमंच की विकास यात्रा के बीच के अंतर्विरोधों, द्वंद्वों, जटिलताओं और अंतर्संबंधों को पहचानने का एक सूक्ष्म प्रयास है जो आज की नाट्यलेखन, रंगकर्म, समीक्षा और हिंदी नाटक और रंगमंच की प्रकृति के अनुरूप है। 'नाट्यचिंतन और रंगदर्शन अंतर्संबंध' पुस्तक में चिंतन और दर्शन की सृजन–प्रक्रिया पर बल देते हुए उसे व्यापक दृष्टि से देखने का प्रयास है तथा साहित्यिक आलोचना में

गुटबंदी, यहाँ तक कि सत्तावादी प्रवृतियाँ, व्यक्तिवादी नीतियों और मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर हिंदी नाटक में जिस प्रकार सर्जनात्मक कार्यों पर, संस्कृति पर लगातार आघात होता रहा तथा देशव्यापी रंग–संस्कृति और नाट्यालोचना को पनपने ही नहीं दिया गया, उसके विरुद्ध यह पुस्तक रचनात्मक स्वतंत्रता और प्रयोगशीलता को बढ़ावा देती हैं– 'समकालीन हिंदी नाटक की संघर्ष–चेतना' पुस्तक नाट्य विधा को उसकी अपनी समग्रता, मौलिकता और विशिष्टता में प्रतिष्ठित करता हैं। साहित्य और कलाओं में परिवर्तन का, बाह्य प्रभावों को आधुनिकता का, मनुष्य की नई–समस्याओं, सामाजिक–पारिवारिक दबावों, विघटन, मूल्य–परिवर्तन और राजनीतिक–धार्मिक प्रश्नों को हमारे समक्ष उठाता हैं एवं पुस्तक का लक्ष्य इतिहास बनाना मात्र न होकर व्यापक समीक्षा करते हुए उस चिंतन–प्रक्रिया से गुजरना हैं और बहस के मुद्दों की जमीन तैयार करना हैं जो आज बेहद जरूरी हो गया हैं। 'समकालीन हिंदी नाटककार' पुस्तक नाट्य समीक्षक की दृष्टि से हिंदी नाटक का निरंतर विकासमान, प्रयोगशील, इतिहास–निर्माण एवं नए नाटककारों को सही परिपेक्ष्य में, बिना किन्ही पूर्वाग्रहों के समझने–परखने की अपेक्षा थी। साथ ही नए नाटककारों की समीक्षा, उनके माध्यम से हिंदी नाटक और रंगमंच की सम्पूर्ण स्थिति से, सीमाओं और उपलब्धियों से, प्रश्नों और मूल्यों से, नवीनता और मौलिकता से साक्षात्कार कराती हैं। इनका मानना है कि "नाट्य असीम है और आज की सबसे बड़ी जरूरत है। जिस नाट्य में काव्य, कला, शिल्प सब अन्तर्निहित है उसे असीम बनाना रंगमंच का काम है, बल्कि वही लक्ष्य है, सौन्दर्य का अन्वेषण है और वहीं नाट्य आलोचना का दायित्व हैं।"[6]

गिरीश रस्तोगी जहां एक नाट्यालोचक के रूप में नाट्य–संसार को लोकोन्मुख बनाती हैं तो वहीं स्त्री–पात्रों की नाटकों में उपस्थिति को मूल्यांकित करते हुए उनके लिए एक नये पथ का प्रदर्शन भी करती हैं। साहित्य में स्त्री विमर्श की तरह ही रंगमंच में भी महिला निर्देशकों के रंगमंच की परिकल्पना को साकार करने में गिरीश रस्तोगी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। समकालीन भारतीय रंग–परिदृश्य में कुछ नया करने, स्वायतत्ता के प्रश्न के साथ अपने सामाजिक–सांस्कृतिक अधिकारों और रंगमंच में बदलाव के साथ सम्पूर्ण भागीदारी दी है। इनके रंगकर्म में ज्यादा प्रयोगधर्मिता एवं कल्पनाशीलता है। इनका स्वभाव रिस्क लेने की क्षमता रखने वाला है, जो जीवन के अनुभवों से घिसे–पिटे ढाँचे को तोड़ती है, सामाजिक रिश्तों की और मानवीय संवेदना की खोज करती है। ये अपनी जगह स्वयं बनाते दिखती हैं इसलिए इनमें ऊर्जा भी ज्यादा है और आलोचनात्मक स्पेस भी। भाषा–भेद, जाति–भेद, संप्रदाय–भेद जैसी संकीर्णताएँ यहाँ नहीं है। इन्होंने ज्यादातर आंतरिक संसार अभिव्यक्त किया है लेकिन बाहर चारों ओर की दुनिया में भी राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, कानूनी, वैज्ञानिक, व्यापारिक, मीडिया– हर प्रकार की दुनिया में अपनी गहरी भागीदारी निभाई है। बीसवीं शताब्दी में अभूतपूर्व भूमिका निभाने वाली महिला निर्देशकों के विषय में

गिरीश रस्तोगी लिखती हैं कि– "निश्चय ही महिला– व्यक्तित्व, उसकी शारीरिक–मानसिक, बौद्धिक संरचना को, स्त्री–संवेदना को भी समझकर चलना, उसके 'निजीपन' के एहसास और 'सृजन' के नित नए रास्ते निकालने की कोशिश और क्षमता को सामाजिक 'सामाजिक संघर्ष' को समझकर चलना होगा, वहीं 'स्त्री–सृजन–कर्म' है। सातवें दशक के बाद से महिला निर्देशकों का नया दौर शुरू होता है। वे अपने समय, कथ्य, शिल्प के प्रति ज्यादा सजग, अन्वेषक, प्रयोगधर्मी रूप से सामने आती हैं। नाट्यालेख, निर्देशन अभिनेत्री, लेखक–निर्देशक–अभिनेता के रिश्ते, संरचनात्मक विशेषताएँ, उनके अपने संवेग, रंगमंच का सौंदर्यशास्त्र और आलोचनात्मक नजर लेकर कई महिला निर्देशक सक्रिय हुई। अमाल अल्लाना, अनुराधा कपूर, कीर्ति जैन, नीलम मानसिंह, नादिरा बब्बर, अनामिका हक्सर, उषा गांगुली, त्रिपुरारी शर्मा आदि अपनी–अपनी रंग–चेतना, भाषायी चेतना और वैचारिक एवं संवेदनात्मक मौलिकता अपने साथ लेकर आई।"[7]

इन्होंने इसके साथ ही शोध एवं संपादन का कार्य भी किया है। इन्होंने हिन्दी–संस्थान के 'नाटक–सार योजना' में संपादन का कार्यभार का बखूबी निर्वहन किया। डॉ. नगेन्द्र द्वारा संपादित 'साहित्य संदर्भ कोष' में भी सहयोग प्रदान किया एवं भारतीय–भाषा परिषद् कोलकाता के 'भारतीय एकांकी में हिन्दी एकांकी' का भी संपादन किया। साथ ही विश्वविद्यालय अनुदान योजना में 'हिंदी नाट्य–समीक्षा के प्रतिमान' में उल्लेखनीय कार्य किया है। इसमें इन्होंने प्रो. 'एमेरिट्स' के रूप में 'लोक–संस्कृति, लोक नाट्य और विश्वमानव–संस्कृति" जैसे विशद एवं गंभीर विषय पर भी ख्यातिपूर्ण शोध–कार्य किया। इन्होंने विभिन्न प्रकार के महत्त्वपूर्ण लेख– साहित्य सन्देश, माध्यम, हिंदी अनुशीलन, समकालीन भारतीय साहित्य, वागर्थ, दस्तावेज, कथादेश, नटरंग, छायानट, नया ज्ञानोदय, कसौटी आदि पत्र–पत्रिकाओं में समय–समय पर छपते रहते हैं। गिरीश रस्तोगी ने 'कथान्तर' एवं 'नवनाट्य' जैसी महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का संपादन भी किया है। 'कथान्तर' में हिंदी की श्रेष्ठ कहानियों का संपादन इनकी प्रमाणिक सृजनात्मक कथा–समीक्षा के साथ है। 'नवनाट्य' हिंदी के नौ नाटकों का संपादन हैं, इनमें ऐसे नाटकों एवं लाघुनाटकों का चयन किया गया है जो हिंदी नाटक, रंगमंच, और भाषा के इतिहास, उनके स्वरूप और मौलिक प्रयोगों को व्यक्त करते हैं। साहित्य–संदेश, युवक, नवजीवन, उत्कर्ष, ज्ञानोदय, माध्यम, नया प्रतीक इत्यादि अनेक पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से लेख, कहानियों के साथ अपनी कविताओं को भी अपने सृजन का अनवरत माध्यम बनाये रखने में सफल रहीं है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि गिरीश रस्तोगी एक कुशल रंगकर्मी, निर्देशिका, चिन्तक, एक बेहतरीन नाट्यालोचक, समीक्षक व आलोचक के रूप में राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय जगत में ख्याति प्राप्त की है। गिरीश रस्तोगी के विषय में यदि कहा जाए कि साहित्य उनका अंगी, संगीत एवं कला उनके आनुषांगिक अंग हैं तो नाटक और रंग–कर्म निस्संदेह उनके प्राण–तत्त्व होंगे। इनका अपनी

जड़ों से, अपने समय से और मनुष्य से हमेशा से ही गहरा जुड़ाव रहा है। इन्हें नाट्य–जगत में इनके अप्रतिम योगदान के लिए उत्तर–प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा महादेवी वर्मा पुरस्कार, आचार्य तथा कला भूषण एवं अवन्ती बाई सम्मान प्राप्त हुए हैं। इनकी श्रेष्ठतम कृति 'हिन्दी नाटक और रंगमंच– नई दिशायें नए प्रश्न' पर उत्तर–प्रदेश संगीत अकादमी द्वारा उत्कृष्ट निर्देशन पुरस्कार तथा हिंदी भाषा और रंगकर्म के प्रयास के लिए सुभद्रा कुमारी चौहान पुरस्कार प्रदान किया गया। इन्होंने अपनी नाट्य–कृतियों, समीक्षा–ग्रंथों, नाटकों, उपन्यासों, कहानियों, कविताओं, नाट्य–प्रस्तुतियों, विभिन्न रंगान्दोलन या नाट्यांदोलनों बहसों, संस्मरणों, आत्मकथाओं तथा साक्षात्कारों के माध्यम से साहित्य और रंग के अनेक मूलभूत प्रश्नों की ओर साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों, विभिन्न सरकारी, गैर–सरकारी संस्थाओं, प्रादेशिक एवं केन्द्रीय सरकारों का ध्यान आकृष्ट किया है। ये 'रूपांतर नाट्य मंच'की स्थापना कर महिला–समाज एवं रंगकर्मियों के लिए एक प्रेरक के रूप में स्वयं को स्थापित करती हैं। नाटक और रंगमंच को विश्वमानव से जोड़ कर रखने की चाहत रखने वाली और उनके प्रति समर्पित नाट्यालोचक, लेखिका एवं सुप्रसिद्ध नाट्य–निर्देशक गिरीश रस्तोगी का निधन 16 जनवरी, 2015 में हुआ, परन्तु इनकी उपलब्धियाँ सदा रंग–जगत को प्रकाशित करती रहेंगी।

संदर्भ–

1. परस्पर पर्याय– प्रभाकर क्षोत्रि, रूपांतर, स्मारिका, पृ. सं.– 14
2. नाटक और रंगपरिकल्पना, डॉ. गिरीश रस्तोगी, पृ. सं.– 31
3. नाट्यचिंतन और रंगदर्शन अंतर्संबंध, हिन्दी समाज में रंगकर्म और उसकी संभावनाएं, गिरीश रस्तोगी, पृ. सं– 65
4. समकालीन हिंदी नाटक की संघर्ष –चेतना, नाट्य–साहित्य, रंगमंच और समीक्षा का विरोधाभास, डॉ. गिरीश रस्तोगी, पृ. सं. – 237
5. नाट्यचिन्तन और रंगदर्शन अंतर्संबंध, नाटक और रंगमंच में चिंतन और विमर्श का आतंरिक स्वर– गिरीश रस्तोगी. पृ. सं. 41
6. वही, पृ. सं, 41
7. नाट्यचिंतन और रंगदर्शन अंतर्संबंध. महिला निर्देशक, स्त्री–संवेदना की समांतर रंगभाषा. गिरीश रस्तोगी, पृ. सं. 86

■

समीक्षा–चिंतन

प्रतिरोध का महाशंख बजाती कविताएँ

शहंशाह आलम *

हर कवि अपने समय से बंधा होता है– अपने बाहर और भीतर, दोनों के समय से। कवि की संरचना यानी जो सचमुच का कवि है, उसकी संरचना, ऐसी ही होती आई है। कवि की संरचना की एक विशेषता यह भी है कि वह अपने कौल पर देर तक टिका रहता है– उसकी रातें डरावनी हों, तब भी और उसके दिन डरावने हों, तब भी। मतलब यह कि कवि अपने वचन से, अपने कथन से, अपने विचार से पक्का होगा, तभी वह अपने कौल का भी पक्का होगा। उसके कौल की धमक भी उसकी कविता में तभी दिखाई देगी। शिवनारायण ऐसे ही कवियों में हैं, जो अपने कौल के पक्के दिखाई देते आए हैं। शिवनारायण कौल के पक्के हैं, इस बात से भी सिद्ध है कि उनके नए कविता–संग्रह का नाम 'प्रतिरोध का महाशंख' रखा गया है। सच यही है कि आज की तारीख में, प्रतिरोध का शंख फूँकना, खुद को किसी बड़े ख़तरे में डालना है। यह समय सिद्ध है। यह भी सिद्ध है, जो कवि अपने समय से बंधा होता है, वह यह जोखिम उठाने को तैयार बैठा होता है। किसी कवि का समयबद्ध होना, इसी जोखिम उठाने से, तय किया गया है। शिवनारायण अपने कवि को यह जोखिम उठाने देते रहे हैं– 'अपना सारा सुख–ऐश्वर्य/दिया किसी और को उसने/जबकि कवि को दिया/केवल अपना विश्वास/जिसे युगों से संजोए/कवि जलता रहा/गलता रहा/देह जर्जर, आँखें पथराईं/टुह–टुह तकता रहा/कि कभी तो वह/आएगा लेने अपने विश्वास को/और वह उस विश्वास से।'

होकर उऋण मुक्तकाम हो पाएगा ('विश्वास', पृष्ठ– 14)।

कहने का तत्पर्य यह है कि शिवनारायण अपने नए कविता–संग्रह 'प्रतिरोध का महाशंख' में एक समयबद्ध कवि की भूमिका में दिखाई देते हैं। यह भूमिका कवि के जीतोड़ श्रम और प्रयास से पाई हुई है। हमारे समय के चेहरे को अब जब वीभत्स बनाकर पेश किया जाने लगा है, तब एक कवि की भूमिका यही होनी चाहिए कि वह अपने समय के चेहरे की खूबसूरती वापस लाने के लिए, अपने समय के रसयुक्त चेहरे को वापस लाने के लिए जीतोड़ श्रम और प्रयास करे।

---

* **संपर्क** – हुसैन कॉलोनी, नोहसा बागीचा, नोहसा रोड, पूरब वाले पेट्रोल पाइप लेन के नजदीक, फुलवारी शरीफ, पटना–801505, बिहार, मो.– 9835417537, 9199518755,

शिवनारायण यही काम करते आए हैं। इस कवि को मालूम है कि समय का चेहरा बिगाड़ने वाले लोग हमेशा गिरोह में रहते आए हैं और प्रतिरोध करने वाले अपने झुंड से अलग रह रहे हैं। इसी का नतीजा है कि हमारे समय का चेहरा बिगाड़ने वाले लोग, जो जंगली हैं, बर्बर हैं, असभ्य हैं, ऐश्वर्ययुक्त हैं, ये लोग समाज को अराजक बनाए रखने की स्थितियों का लाभ लेने में माहिर रहे हैं। ऐसे लोगों की इस दक्षता, कुशलता, निपुणता का पर्दाफाश शिवनारायण अपनी कविताओं में बखूबी करते हैं। शिवनारायण की एक खूबी यह भी है कि इनकी कविताएँ शब्दों का व्यापार नहीं करतीं। इस कवि को यह पता है कि वह जिस लोक में चल–फिर रहा है, वह कोई परीलोक नहीं है बल्कि संघर्षलोक है। यही कारण है, शिवनारायण बहुत सारे कवियों की तरह शब्दों का व्यापार नहीं करते हैं, शब्दों को जीते हैं। इस जीने का मतलब यह हुआ कि इनकी कविताएँ अराजक समय से लोहा लेने की उम्मीद में जीती आई हैं। शिवनारायण की कविताओं का यह किरदार जाँचा हुआ, आजमाया हुआ और अनुभूत है– 'मैं देखना चाहता हूँ –/शांत पड़े सरोवर में लहरें/पर्वतों में हलचल/कूदती–नाचती हवाए/और प्रकृति में मुखर कलरव/मुझे मुक्त होने दो आज/कि निर्वाण के अपने राग में/मैं सृजन के सारे/रंगबीज डालना चाहता हूँ/कि तृप्तमन मनुष्य हर तरह से/उन्नत सर्वोत्तम हो सके।' ('रंगबीज', पृष्ठ रू 16)।

एक सच्चे कवि के जीवन का हासिल–जमा यही तो होता आया है कि वह अपने शब्दों को हथियार उन लोगों के ख़िलाफ बनाता है, जो लोग होते तो मनुष्य हैं, लेकिन अपना हर कार्य मनुष्यत्व के विरोध में करते हुए पाए जाते हैं। यहाँ पर मैं फिर से कहूँगा कि मनुष्यता के शत्रु अब झुंड में रहते हैं और मनुष्यता के बचाव में लगे हुए लोग अलग–अलग घरों में। एक–दूसरे से विपरीत दिशा में हैं। कवियों को अब विपरीत क्रम वाली यह बात समझनी होगी। समझनी भी चाहिए। यह बात भी समझनी चाहिए कि उन्हें झुंड में रहना चाहिए। झुंड में होंगे, तभी शत्रुओं से सच्चे अर्थों में लोहा ले सकेंगे और मनुष्यता के बचाव के लिए यही न्यायसंगत है। मुझे लगता है, शिवनारायण की कविताएँ अपने पढ़ने वालों को अधिक न्यायसंगत तरीके से मेरी समझी हुई चीजों को समझा पाती हैं। हमको यह भी समझना होगा कि जब सारे परिंदे अब भी झुंड में रहते आ रहे हैं और जीवन की लड़ाइयाँ जीतते आ रहे हैं, तब हम कविताकर्म से जुड़े हुए लोग अलग और भिन्न और कई खेमों में बँटे हुए क्यों दिखाई देते हैं। शिवनारायण चिड़ियों से सीखते हैं और कवियों को झुंड में आने के लिए आह्वान भी करते हैं –'जल, धरती, आकाश/मेरे लिए इनमें/कहीं कोई सीमा नहीं/पर तुम्हारे लिए/हर ओर सीमाबंदी है/फिर भी अपने आकर पर/तुम इतना इतराते हो/करते रहते हो गर्जन–तर्जन/खंड–खंड में भर कर श्वाँस/तुम विश्व–विजय का भरते अहंकार/और मैं पगली/अखंड, सीमाहीन हो कर भी/अपनी लघुता में/गाती हूँ विश्व प्रेम के गीत/आओ, अब भी/मेरे गान में शामिल हो जाओ।' ('चिड़िया और जहाज', पृष्ठ– 19)।

ऐसी ही हैं, शिवनारायण की कविताएँ, जो अपने पढ़ने वालों को कहीं पर भी ठिठकने नहीं देतीं, स्थिर नहीं होने देतीं, स्तंभित नहीं होने देतीं। ठिठकने नहीं देने से तात्पर्य यह है कि 'प्रतिरोध का महाशंख' की कविताएँ पढ़कर आप अपना दिल धड़कता हुआ महसूस करते हैं और दिल के धड़कने का अर्थ हमारे जिंदा होने का सबूत ही तो होता है। और शिवनारायण का शंखनाद यही है कि कविता पढ़ने वाले अपने भीतर इस परिवर्तन की शुरुआत करें कि वो हमेशा सच के साथ खड़े रहेंगे और सच यही है कि विरोध के साथ हमारा रिश्ता हमेशा अटूट होना चाहिए। हर अच्छे कवि की पहचान यही होती है कि वह हमेशा अपने आसपास की जिंदगियों के साथ अटूट रिश्ता बनाए रखता है। शिवनारायण के जीवन की एक सच्चाई यह भी है कि उनका भाषा के साथ, साहित्य के साथ, मनुष्य के साथ, मानवीयता के साथ, प्रकृति के साथ अटूट रिश्ता साफ–साफ दिखाई देता है।

सामाजिक सरोकार को अधिक स्पष्ट करने के लिए विश्व की विलक्षण कवयित्री विस्वावा शिम्बोर्स्का के एक कथन को उद्धृत करना मुझे जरूरी लग रहा है। वो कहती हैं, 'मैं लड़ती रहती हूँ, उस खराब कवि से, जिसे आदत है बहुत सारे शब्दों के इस्तेमाल करने की।' इसके विपरीत अपने सामाजिक सरोकार को आगे बढ़ाने की खातिर शिवनारायण बहुत सारे शब्दों का इस्तेमाल करते आए हैं। अब देखना यह होगा कि रचनारत लोगों के सामाजिक सरोकार को ध्वस्त करने के लिए विस्वावा शिम्बोर्स्का के समय का हिटलर और स्तालिन कैसा था और शिवनारायण के समय का हिटलर और स्तालिन कैसा है? जहाँ विस्वावा शिम्बोर्स्का के कम शब्दों के इस्तेमाल की वजह हिटलर और स्तालिन की निर्दयता और कठोरता रही है, वहीं शिवनारायण के अधिक शब्दों के इस्तेमाल की वजह इनके समय का हिटलर और स्तालिन ही रहता आया है। समझने की बात यह है कि शासक वर्ग हर समय में हिंसक व्यवहार करता आया है। इस व्यवहार के लिए न विस्वावा शिम्बोर्स्का के समय के शासक की तरफ से, न शिवनारायण के समय के शासक की तरफ से अपने हिंसक व्यवहार के लिए कभी निंदा प्रस्ताव आया है। मेरे ख्याल से, शिवनारायण के बाद के शासक की तरफ से किए जाने वाले हिंसक व्यवहार के लिए भी कोई निंदा प्रस्ताव नहीं आने वाला है। तभी ऐसे शासकों के विरुद्ध शिवनारायण सरीखे कवियों को ही निंदा प्रस्ताव पेश करना होता है– 'गिरफ्तार होते ही वह/खूँख़ार अपराधी घोषित कर दिया गया/वह बहुत गरीब था/समृद्ध समाज से/वंचित, तिरस्कृत, अवशोषित.../नहीं कर सकता था वह/किसी भी स्तर से कोई विरोध/हर वह शख्स जो नहीं कर सकता है कोई विरोध/शासन द्वारा अपराधी ठहराया जाएगा/कोर्ट, पुलिस, सबके सब होंगे उसके ख़िलाफ/आख़िर पचहत्तर पार/भारत की किस व्यवस्था में जी रहे हैं हम/जहाँ गरीब होना, निर्बल होना/अपराधी होना है और जो धनी है/समर्थ है, बलवान है/वह है सभ्य नागरिक/हर प्रकार की प्रतिष्ठा/पद, अलंकरण, सम्मान का हकदार।' ('व्यवस्था', पृष्ठ– 13)।

शिवनारायण की कविता के रासायनिक परीक्षण का नतीजा यही निकल कर आता है कि आदमी की दुनिया में मसले बहुत ज्यादा हैं और मसलों के हल कम निकल कर सामने आ रहे हैं। शिवनारायण की कोशिश लेकिन यह रहती है कि मसलों के हल भी निकाले जाएँ। इस कारण इनकी कविताएँ आदमी के भीतर यह समझ बनाती हुई दिखाई देती हैं कि आदमी के आसपास की जितनी भी समस्याएँ हैं, वो नई नहीं हैं, प्राचीन हैं। हमारा प्रतिरोध भी उतना ही प्राचीन है। 'भोर', 'भागते लोग', 'काँधे का स्पर्श', 'वसंत उतर रहा है', 'सृष्टि के फूल', 'हम साथ लड़ेंगे', 'जमीन से कटकर', 'मुक्ति', 'हम लड़ेंगे', 'कितने रंग', 'सेतु', 'खूब हँसो', 'लाल धागे का रिश्ता', 'आईने में माँ' और 'कबीर को याद करते हुए' आदि संग्रह की पचपन कविताएँ हमारे भीतर यही समझ पैदा करती हैं। कविता की उपयोगिता इसी बात में है कि वह हममें किस समझ के साथ जीवन में आगे बढ़ने का सलीका पैदा करती है। शिवनारायण की कविता का सेतु हमको सुरक्षित पार करने देता है। इनकी कविता का असल रंग भी यही है।

'प्रतिरोध का महाशंख' की कविताएँ मिथकीय नहीं हैं, यथार्थवादी हैं। मायावी, छद्म, वायवीय कविता कहने–लिखने का समय अब ख़त्म हो चुका। शिवनारायण का यह संग्रह इस विशेषता से लैस है। वास्तव में, आज समकालीन हिंदी कविता को ऐसे ही संग्रहों की दरकार है। दरकार यह भी है कि आदमी की दुनिया का दिनमान एक ऐसे क्रम से बढ़ता रहे, जिसमें बस जीवन का उजाला दिखाई दे। शिवनारायण की कविता के भीतर चल रहा सूर्योदय से सूर्योदय तक का समय विशेषकर आज के कवियों से यही उम्मीद रखता है और मैं फिर से कहना चाहूँगा कि इस संग्रह का हासिल यही है कि शिवनारायण का यह शंख झूठ के हर झूठे तर्क को परे करते हुए हमको ताजादम बनाता है–

'विध्वंस के उत्सव का यह समय
तर्क, ज्ञान, करुणा, संवेदना, चिंतन
हर किसी चीज को लीलता जा रहा है
तुम कह सकते हो –
कि बाजार निगलता है
तो घर–घर उगलता भी है
वास्तव में उसका उगलना ही तो निगलना है
हाँ, उगलने–निगलने की बाजार–क्रीड़ा के ग्रास हैं हम

कितना कुछ मेरे चेतन में डालकर
अपने हिस्से का मौन लिए
जब चले गए उस रात तुम
मैं निःशब्द तुम्हें जाते हुए देखता रहा था

तुम्हारे अन्तर्ध्यान होते ही
जाने क्यों उस रात मेरे अंदर
एक महाशंख बजता रहा था

सुनो साथी –
बाजार कर रहा हो जब अट्टहास
मेरे अंदर रह–रहकर बज उठता है
प्रतिरोध का महाशंख
बाजार जितना ही भयावह होता जाएगा
बजता ही रहेगा बजता ही रहेगा।'

('प्रतिरोध का महाशंख', पृष्ठ : 32–33)।

पुस्तक : प्रतिरोध का महाशंख (कविता–संग्रह)
कवि : शिवनारायण
प्रकाशक : अयन प्रकाशन, नई दिल्ली–110059
संस्करण : 2024
मूल्य : 250/– सजिल्द

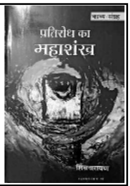

■

R.N.I. Reg. No. DELHIN/2003/13814 UGC CARE LISTED JOURNAL, SN.-63

आस्था भारती, दिल्ली के लिए के.एम.एस. राव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एंड प्रिंटर्स, ई-33, सेक्टर-ए.5/6, उ.प्र. समापन क्षेत्र, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद-201103 (उ.प्र.) द्वारा मुद्रित।

सम्पादक : डॉ. शिवनारायण

e-mail : shivnarayan22@yahoo.com